3·3

महाकवि श्रीहर्ष विरचित

नैषध-महाकाव्य

(प्रथम सर्ग)

मल्लिनाथीय व्याख्या

हिन्दी अनुवाद, आलोचना तथा टिप्पणी सहित

[संशोधित एवं परिवर्धित चतुर्थ संस्करण]

डॉ० शिवराज शास्त्री

एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष—प्रो० कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।



प्रकाशक :

साहित्य भण्डार

सुभाष बाजार, मेरठ ।

जनवरी १९७२]

[मूल्य २·५०

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

इस शैली पर सम्पादित लेखक की अन्य पुस्तकें

१. रत्नावली नाटिका
२. वेणी-संहार
३. भोज-प्रबन्ध
४. अभिज्ञानशाकुन्तल
५. मेघदूत

प्रथम संस्करण १९५४
द्वितीय संस्करण १९६२
तृतीय संस्करण १९६६
चतुर्थ संस्करण १९७२

मुद्रक :
राजकिशोर शर्मा
सर्वोदय प्रेस,
२९४, जत्तीवाड़ा, मेरठ।
दूरभाष : ४३५२

प्राक्कथन

प्रथम संस्करण

यह पुस्तक अपने एम० ए० के छात्रों के आग्रह पर उन्हीं की आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। प्रारम्भ में कवि का परिचय और उसकी काव्य-शैली का विस्तृत विवेचन दिया गया है। अनुवाद को मूलानुवर्ती रखने पर बल दिया गया है जिससे कि मूल श्लोक को हृदयङ्गम किया जा सके, यद्यपि ऐसा करने से कहीं कहीं भाषा की शिथिलता अनिवार्य थी। श्लोक के नीचे अन्वय भी इसी दृष्टि से दिया गया है। काव्य-सौन्दर्य, श्लोक का भाव, दैवत कथा, व्याख्यानात्मक तथा व्याकरण सम्बन्धी टिप्पण अलग टिप्पणी में दिये गये हैं। टिप्पणी से मल्लिनाथ की संस्कृत-टीका को सुबोध तथा परिपूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है।

नैषधकाव्य की अनेक टीकाओं में से स्पष्टता और प्रामाणिकता के विचार से मल्लिनाथ की टीका दी गई है। छात्रों की सुविधा के लिए संस्कृत टीका को नई प्रणाली से सम्पादित किया गया है। श्लोकाक्षर काले टाइप में रक्खे गये हैं और टीका के व्याकरण कोष तथा अलङ्कार सम्बन्धी अंशों को कोष्ठक ( ) में रक्खा गया है। कोष्ठगत अंशों को छोड़कर टीका पढ़ने से मल्लिनाथीय टीका ही सरल संस्कृत टीका के समान सुबोध प्रतीत होगी।

पुस्तक के मौलिक होने का दावा नहीं किया जा सकता। साहित्य में यत्र तत्र बिखरे हुये कणों को पाठकों के लाभार्थ सञ्चित कर दिया गया है। जिन लेखकों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनका पाद-टिप्पणी में संकेत किया गया है। 'परिचय' लिखने में प्रो० एम० वी० दीक्षित, पं० शिवदत्त दाधिमथ और प्रो० के० के० हण्डीकी के नैषध के संस्करणों तथा प्रो० दासगुप्त, प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय और श्री कृष्णमाचारी के संस्कृत-साहित्य के इतिहास से विशेष रूप से सहायता ली गई है। अतः मैं इन विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री पं० हरिदत्त शर्मा एम० ए० व्याकरणाचार्य, प्रिंसिपल विल्वेश्वर संस्कृत महाविद्यालय, मेरठ और मेरे पुरातन छात्र श्री अमीचन्द एम० ए० ने अत्याधिक सहायता की है जिसके लिये कृतज्ञता-प्रदर्शन का शिष्टाचार पर्याप्त नहीं है।

विजया दशमी, १९५४
३०१, उर्मिला शास्त्री पथ, मेरठ। —शिवराज शास्त्री

द्वितीय संस्करण

इस संस्करण में प्रथम संस्करण से दोषों का सर्वथा परिमार्जन कर दिया गया है। विषय को विशद एवं परिपूर्ण बनाने के लिये कुछ अंशों को दुबारा लिखा गया है। पुस्तक के अन्त में श्लोकानुक्रमणी तथा व्युत्पत्ति सहित शब्द-कोष जोड़ दिया गया है। आशा है यह संस्करण पाठकों के लिये और अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

७ मई १९६२
३०१, उर्मिला शास्त्री पथ, मेरठ। —शिवराज शास्त्री

तृतीय संस्करण

यह संस्करण द्वितीय संस्करण की लगभग आवृत्तिमात्र है। मुद्रण की अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है।

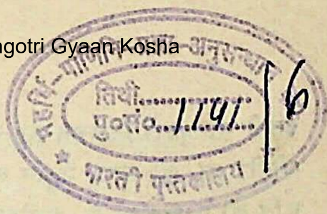
जून, १९६६
१४१—साकेत, मेरठ। —शिवराज शास्त्री

चतुर्थ संस्करण

यह संस्करण तृतीय संस्करण की लगभग आवृत्तिमात्र है। मुद्रण की अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है।

जनवरी, १९७२ —शिवराज शास्त्री





परिचय

महाकवि श्रीहर्ष के महाकाव्य 'नैषधीयचरित' का संस्कृत-काव्यों में प्रमुख स्थान है। इसकी गणना बृहत्त्रयी में की जाती है। प्राचीन परम्परा के पण्डितों में बृहत्त्रयी के तीनों काव्यों—किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित-में से नैषधीयचरित सर्वोत्कृष्ट माना गया है, जैसे कि उक्ति प्रचलित है।

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

अर्थात् भारवि की प्रतिभा तभी तक चमकती है, जब तक कि माघ का उदय नहीं होता। नैषध-काव्य का उदय होने पर तो कहाँ माघ और कहाँ भारवि?

१. श्रीहर्ष का समय

कवि द्वारा दी गई सूचना

महाकवि श्रीहर्ष का जन्म कहाँ और किस समय हुआ, इस विषय में विद्वानों में एकमत्य नहीं है। श्रीहर्ष ने यद्यपि संस्कृत के अन्य कवियों की अपेक्षा अपने विषय में अधिक सूचना दी है, उसने अपने आश्रयदाता के विषय में भी संकेत किया है, फिर भी वह सूचना स्पष्ट एवं निश्चयात्मक नहीं है। कवि ने नैषधीयचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में अपने माता-पिता का उल्लेख किया है। कुछ में अपने अन्य ग्रन्थों का संकेत किया है और कुछ में अपनी काव्यशक्ति और काव्य की उत्कृष्टता प्रकट की है। उसने काव्य के अन्तिम सर्ग के अन्त में ४ श्लोकों में अपने प्रतिवादियों की भर्त्सना करते हुए अपनी काव्य-शैली का समर्थन किया है।

पिता श्रीहीर और माता मामल्लदेवी

यदि नैषध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक तथा २२ वें सर्ग की समाप्ति पर जुड़े हुए अन्तिम चार श्लोकों को कवि की मौलिक रचना मान लिया जाये, तो श्रीहर्ष के विषय में

इतनी जानकारी निश्चित रूप से मिलती है[1] कि कवि के पिता का नाम श्रीहीर था, जो स्वयं महान् कवि थे और माता का नाम मामल्लदेवी था। कवि को कान्यकुब्ज के अधीश्वर से पान का बीड़ा और आसन (सत्कार) प्राप्त था। लेकिन उसने यह कहीं स्पष्ट नहीं किया कि उसका आदरकर्ता कान्यकुब्जेश्वर कौन था ?

आश्रयदाता जयचन्द्र (१२ वीं शताब्दी)

श्रीहर्ष का आश्रयदाता कान्यकुब्जेश्वर कदाचित् इतिहास प्रसिद्ध कन्नौज का राजा जयचन्द्र या जयन्तचन्द्र था, जिसका दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान से युद्ध हुआ था और जो अन्त में यवनों के हाथ मार डाला गया था। श्रीहर्ष ने नैषध के पञ्चम सर्ग के अन्तिम श्लोक में अपने जिस ग्रन्थ 'विजयप्रशस्ति' का उल्लेख किया है, वह कदाचित् जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की प्रशंसा में लिखा गया था। विजयचन्द्र और उसके पुत्र जयचन्द्र का समय १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। क्योंकि जयचन्द्र के एक दानपत्र का समय, जिसमें भारद्वाज गोत्र के डोडराउत श्री अणंग को केमोली नामक ग्राम दान देने का आदेश है, सम्वत् १२४३ आषाढ़ शुदि रविवार ७ (ईस्वी सन् ११८६) है। जयचन्द्र के युवराज पद पर आरोहण के समय के दानपत्र का समय १२२५ (ईस्वी सन् ११६९) है।

राजशेखर द्वारा दी गई सूचना

कवि के विषय में जैन-कवि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'प्रबन्धकोष' में-जिसका समय ईस्वी सन् १३४८ है—श्रीहर्ष के विषय में पर्याप्त सूचना दी है। यद्यपि राजशेखर का कथन सर्वांश में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, फिर भी उसने श्रीहर्ष के जीवन और उसके काव्य के विषय में जो सूचना दी है वह अन्य प्रमाणों के सामञ्जस्य में होने के कारण पर्याप्त विश्वसनीय है। राजशेखर के अनुसार श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयन्तचन्द्र (या जयचन्द्र) का राज्याश्रित कवि था।

---

१. इनकी मौलिकता के विषय में अनेक विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है—देखिये, दासगुप्त : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर भाग १, फुट-नोट ३ पृष्ठ ३२६।

जयन्तचन्द्र का उपनाम पङ्गुल था। वह कुमारपाल का समकालीन था और उसका राज्य यवनों द्वारा छीन लिया गया था। राजशेखर ने जिस जयन्तचन्द्र का उल्लेख किया है, वह कन्नौज और बनारस का शासक (ई० सन् ११६८-९४) इतिहास प्रसिद्ध जयचन्द्र ही है। राजशेखर ने अपने 'प्रबन्धकोश' के एक अन्य प्रबन्ध में यह भी लिखा है कि गुजरात में नैषध की हस्तलिखित प्रतिलिपि वीरधवल के राज्यकाल में सर्वप्रथम हरिहर द्वारा लाई गई। वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल ने उसकी प्रतिलिपियाँ कराईं और उसका प्रचार किया।[1]

नैषधचरित का एक प्राचीन टीकाकार चाण्डुपण्डित है, जो अहमदाबाद के समीप ढोलका ग्राम का निवासी था। उसकी टीका का नाम 'दीपिका' है, जिसे उसने सम्वत् १३५३ (१२९६ ई० स०) में लिखा था। चाण्डुपण्डित ने अपनी टीका में नैषध को नूतन-काव्य कहा है, साथ ही यह भी लिखा है कि उसकी टीका से पहले 'नैषधचरित' पर विद्याधर विरचित टीका विद्यमान थी।

नैषधचरित के टीकाकार चाण्डुपण्डित ने अपनी टीका ई० स० १२९६ में लिखी। उससे पहले नैषधचरित पर विद्याधर टीका लिख चुका था। चाण्डुपण्डित नैषधचरित को नूतन-काव्य समझता था। जैन-कवि राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोष में, जो कि ई० स० १३४८ में लिखा गया था, श्रीहर्ष को कन्नौज के राजा जयन्तचन्द्र का राज्याश्रित कहा है। श्रीहर्ष ने स्वयं कान्यकुब्जेश्वर को अपना आश्रयदाता बतलाया है। कन्नौज के राजा जयचन्द्र का समय दानपत्रों की सहायता से ईसा की १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। इसलिए नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष का समय भी १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही होगा।

२. कवि के समय के सम्बन्ध में प्रो० बूहलर और उसके विरोधी

१. देखिये, प्रबन्धकोशे हरिहरप्रबन्धः
(सिंघी जैन ग्रन्थमाला संस्करण पृ० ६०)

प्रो० बूह्लर: १२वीं शती का उत्तरार्द्ध

प्रो० बूह्लर ने राजशेखर के कथन का आश्रय लेकर श्रीहर्ष का समय ईसा की १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध ही सिद्ध किया है। प्रो० बूह्लर ने विरोधियों की युक्तियों का खण्डन करते हुये अपने मत की विस्तार से सम्पुष्टि की है। यहाँ पर संक्षेप में प्रो० बूह्लर की युक्ति-प्रतियुक्तियों का प्रदर्शन सर्वथा अनुपयुक्त न होगा।

श्रीहर्ष का समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित करने में प्रो० बूह्लर की निम्नलिखित युक्तियाँ हैं :—

१—राजशेखर ने अपने 'प्रबन्धकोष' (ई० सन् १३४८ में लिखित) में श्रीहर्ष को वाराणसी के राजा जयन्तचन्द्र का सभासद कहा है।

२—यह जयन्तचन्द्र इतिहास प्रसिद्ध जयचन्द ही है जो कन्नौज के राठौरवंशीय राजाओं में बनारस का अन्तिम अधिपति था और ई० सन् १२९५ में जिसका राज्य मुसलमानों ने छीना था।

३—श्रीहर्ष ने स्वयं कहा है कि उसे कान्यकुब्जेश्वर से पानों का बीड़ा और आसन प्राप्त होता था।

४—राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में एक अन्य स्थान पर यह भी कहा है कि वीरधवल के राज्य-काल में हरिहर सर्वप्रथम गुजरात में नैषध की हस्त-लिखित प्रतिलिपि लाया और मन्त्री वस्तुपाल ने उसकी प्रतिलिपियाँ कराकर उसका अच्छा प्रचार किया।

प्रो० बूह्लर की इन युक्तियों के विरोध में अनेक विद्वानों ने अपनी युक्तियाँ दी हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं :—

डा० हाल : भोज का पूर्ववर्ती

डा० फिट्ज एडवर्ड हाल (Dr. Fitz Edward Hall) ने यह दोषारोपण किया है कि नैषधचरित के कुछ श्लोक भोज-विरचित 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में उद्धृत पाये जाते हैं। भोज का समय ईषा की ११वीं शताब्दी का पूर्व भाग है। इसलिये श्रीहर्ष का समय भोज से पहिले होना चाहिये।

श्री तैलङ्गः ९वीं, १०वीं शताब्दी

श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग ने कुसुमाञ्जलिकार उदयन का समय निश्चित करते हुये यह प्रदर्शित किया है कि श्रीहर्ष का समय ईसा की ९वीं या १०वीं शताब्दी है; जिसके लिये उनकी ये युक्तियाँ हैं—

(i) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में नैषध के श्लोक उद्धृत पाये गये हैं।

(ii) ११वीं शती में वाचस्पति मिश्र ने श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' के खण्डन में 'खण्डनोद्धार' लिखा।

(iii) सायणमाधव ने स्वप्रणीत शङ्करविजय में श्रीहर्ष को शङ्कर का समकालीन बतलाया है, क्योंकि उसने लिखा है कि खण्डनकार (श्रीहर्ष), श्री शङ्कराचार्य से शास्त्रचर्चा में पराजित हुये।

(iv) राजशेखर के कथन सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि उसने जयन्तचन्द्र को गोविन्दचन्द्र का पुत्र कहा है, जबकि दानपत्रों में उसे विजयचन्द्र का पुत्र कहा गया है।

प्रो० ग्राउस : चन्दबरदाई का पूर्ववर्ती

प्रो० बूहलर के मत के खण्डन में E. S. Grouse ने यह युक्ति दी कि 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक चन्द कवि ने मङ्गलाचरण में अपने पूर्ववर्ती कवियों का नाम निर्देश किया है और उसमें श्रीहर्ष का नाम कालिदास से भी पहले रक्खा है। यदि राजशेखर के कथन को सत्य मान लिया जाये तो श्रीहर्ष और चन्द समकालीन हो जायेंगे, क्योंकि चन्द कवि का समय १२वीं ईस्वी शती का अन्तिम भाग माना जाता है।

प्रो० बूहलर द्वारा

अपने विरोधियों के इन आक्षेपों का उत्तर प्रो० बूहलर ने इस प्रकार दिया है—

विरोधी मतों का निराकरण

१—डा० फिट्ज एडवर्ड (Fitz Edward) और श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तेलङ्ग ने जो यह कहा है कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में नैषध के श्लोक उद्धृत पाये गये हैं, वह सर्वथा असत्य है, क्योंकि वामनाचार्य झलकीकर और डा० आफरेख्ट (Aufrecht) ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के श्लोकों की जो सूचियाँ तैयार की हैं, उनमें नैषध का

कोई भी श्लोक नहीं है। प्रो० बूहलर ने स्वयं भी 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की उपलब्ध हस्तलिखित प्रति से मिलान करके देख लिया है। इस विषय में या तो डाक्टर फिट्ज एडवर्ड हाल और श्री तैलङ्ग को कोई भ्रान्ति हो गई है अथवा उन्हें उपलब्ध 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की प्रति दूषित है जिसमें नैषध के श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं।

२—श्री तैलङ्ग ने जो यह कहा है कि ११वीं शताब्दी के वाचस्पति मिश्र ने श्रीहर्ष के 'खण्डनखण्डखाद्य' के विरोध में 'खण्डनोद्धार' लिखा है इसलिये श्रीहर्ष का समय ११वीं शती से पहले होना चाहिये। इसके उत्तर में प्रो० बूहलर का कथन है कि यद्यपि यह सत्य है कि वाचस्पति मिश्र ने 'खण्डनखण्डखाद्य' के निराकरण में 'खण्डनोद्धार' लिखा है, लेकिन वाचस्पति मिश्र, कई हो चुके हैं। 'खण्डनोद्धार' का लेखक वाचस्पति मिश्र, ११वीं शती के वाचस्पति मिश्र से, जिसने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, सांख्य-तत्त्वकौमुदी, भामती आदि दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं, सर्वथा भिन्न कोई अर्वाचीन लेखक है। प्रो० बूहलर ने जब गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के पण्डितों से इस विषय में पूछताछ की तो उनका भी यही विचार था कि 'खण्डनोद्धार' का लेखक वाचस्पति मिश्र कोई नवीन है और भामती आदि के रचियता वाचस्पति मिश्र से भिन्न है।

३—सायणमाधव ने अपने ग्रन्थ शङ्करविजय में जो श्रीहर्ष को शङ्कर का समकालीन बतलाया है, वह विश्वसनीय नहीं है। सायणमाधव ने इतिहास का अनुसरण न करके शङ्कर की प्रसंशा के लिये केवल अपनी मनःकल्पना से अनेक पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों तथा लेखकों को शङ्कर का समकालीन वर्णित किया है। सायणमाधव ने तो यह भी वर्णन किया है कि शङ्कर ने बाण और मयूर को जीता। बाण और मयूर का समय ७वीं शताब्दी है। इसलिये इतिहास की दृष्टि से सायणमाधव के कथन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

४—ग्राउस महोदय ने जो कहा है कि चन्द कवि ने मङ्गलाचरण के श्लोक में श्रीहर्ष को पूर्ववर्ती कवि के रूप में नमस्कार किया है और उसका नाम कालिदास से पूर्व[1] रक्खा है, उसका उत्तर यह है कि चन्द ने जो शेष, विष्णु,

---

१. नरं रूपं पंचम्म श्रीहर्ष सारं। नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं॥
छटं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं। जिनै वागवानी सुबानी सुबद्धं॥
कियो कालिका मुक्ख वासं सुसुद्धं। जिनैं सेत बंध्योति भोजप्रबंधं॥

व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दण्डमाली और जयदेव आदि का उल्लेख किया है उसमें यह आवश्यक नहीं कि उसने कवियों के समय के क्रमानुसार ही नाम रक्खे हों, क्योंकि श्री तैलङ्ग ने निश्चित रूप से यह प्रदर्शित कर दिया है कि श्रीहर्ष भोजराज वृत्तान्त के रचयिता कालिदास का परवर्ती है। यह बिल्कुल सम्भव है कि 'पृथ्वीराज रासो' के लेखक ने कवित्व की दृष्टि से श्रीहर्ष को कालिदास से पूर्व स्थान दिया हो, क्योंकि एक ऐसा युग था जब कि 'नैषध' को सर्वश्रेष्ठ काव्य समझा जाता था। ग्राउस महोदय ने जो यह आक्षेप किया था कि यदि राजशेखर के अनुसार श्रीहर्ष का समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध मान लिया जाये तो श्रीहर्ष चन्द का समकालीन हो जायेगा जबकि चन्द ने उसे प्रसिद्ध कवि के रूप में नमस्कार किया है, वह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बिल्कुल सम्भव नहीं श्रीहर्ष कुछ पूर्ववर्ती या समकालीन होते हुये भी 'पृथ्वीराज रासो' के लिखे जाने के समय तक इतना प्रसिद्ध हो गया हो कि कुछ परवर्ती या समकालीन कवि ने उसकी अभिवन्दना करना शिष्टाचार समझा हो। यह भी सम्भव है कि मूल 'पृथ्वीराज रासो' में यह श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये गये हों। वस्तुतः तो अनेक विद्वानों को 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता पर ही पूर्ण सन्देह है।[1] इसलिये 'पृथ्वीराज रासो' में श्रीहर्ष का उल्लेख होने से श्रीहर्ष की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राजशेखर का यह मत सत्य ही है कि श्रीहर्ष १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में कन्नौज के राजा जयचन्द का राज्याश्रित था। 'प्रबन्धकोश' से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष ने ११७४ ई० से कुछ पूर्व ही 'नैषध' पूर्ण कर लिया था, क्योंकि राजशेखर ने जयचन्द्र के अमात्य की सोमनाथ-यात्रा (११७४ ई०) का वर्णन श्रीहर्ष की काश्मीर-यात्रा के पश्चात् किया है और श्रीहर्ष ने काश्मीर-यात्रा से पूर्व नैषध-काव्य पूर्ण कर लिया था।

श्रीहर्ष के जन्म स्थान के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित नहीं है। राजशेखर

---

१ श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, श्री मेनारिया आदि।

ने उसे अपने 'प्रबन्धकोष' में गौडदेशीय' कहा है। कदाचित् गौड देश का होने के कारण ही श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वीशप्रशस्ति' नामक ग्रन्थ लिखा हो। श्री नीलकमल भट्टाचार्य[1] ने इसे बंगाली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हरीशचन्द्र सिद्धान्तवागीश ने उसके बंगाली होने में निम्नलिखित युक्ति दी है—

प्राचीन परम्परा के अनुसार श्रीहर्ष का पिता श्रीहीर गौड देश की राजधानी लक्ष्मणावती से आया था। गौड देश अधुनिक बंगाल का प्रदेश है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार लक्ष्मणावती माल्दा जिले में थी, इसलिये श्रीहर्ष को बंगाली समझा जा सकता है।

३. श्रीहर्ष के अन्य ग्रन्थ और उनका कालक्रम

श्रीहर्ष ने नैषध-काव्य के कई सर्गों के अन्तिम श्लोक में स्वरचित अन्य ग्रन्थों का निर्देश किया है। श्रीहर्ष ने अपने कथन के अनुसार नैषध सहित उसके यह ९ ग्रन्थ हैं :—(१) नैषध या नैषधीयचरित, (२) स्थैर्यविचारप्रकरण, (३) विजयप्रशस्ति, (४) खण्डनखण्डखाद्य, (५) गौडोर्वीशप्रशस्ति, (६) अर्णववर्णन, (७) छिन्दप्रशस्ति, (८) शिवशक्तिसिद्धि, (९) नवसाहसाङ्कचरित।

इसके अतिरिक्त श्रीहर्ष का एक अन्य ग्रन्थ 'ईश्वराभिसन्धि' भी है, जिसका उसने खण्डनखण्डखाद्य में उल्लेख किया है। इस प्रकार १० ग्रन्थ लिखे थे। इनमें से इस समय केवल दो ग्रन्थ—(१) नैषधीयचरित और (२) खण्डनखण्डखाद्य—ही उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं। शेष ८ ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं, उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी नहीं मिलीं। इसलिये उन ग्रन्थों का विषय क्या था, यह कुछ नहीं कहा जा सकता और न उनके आधार पर कुछ निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है। श्रीहर्ष ने नैषध में जिन आठ ग्रन्थों का निर्देश किया है, वे अवश्य ही नैषध से पूर्व लिखे जा चुके होंगे। लेकिन इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि नैषध में[2] खण्डनखण्डखाद्य का उल्लेख किया गया है तो खण्डनखण्डखाद्य[3] में नैषध का भी उल्लेख किया गया है। इससे प्रतीत होता है

१. सरस्वती भवन स्टडीज, बनारस १९२४, भाग ३, पृ० १५९—९४।

२. षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे.......। नैषध, ६/११३।

३. तथाहमकथयं नैषधचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे।

कि नैषधीयचरित और खण्डनखण्डखाद्य साथ-साथ लिखे गये होंगे । कदाचित् 'खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्' में 'सहजात्' (साथ उत्पन्न) अभिप्रायपूर्ण है। फिर भी खण्डनखण्डखाद्य में नैषध के २१ वें सर्ग का उल्लेख होने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने खण्डनखण्डखाद्य को पूर्ण करने से पूर्व ही नैषध-काव्य को पूर्ण कर लिया था । कवि का अन्तिम ग्रन्थ 'ईश्वराभिसन्धि है, क्योंकि नैषध में कहीं भी ईश्वराभिसन्धि का उल्लेख नहीं है और खण्डनखण्डखाद्य में भी जो उल्लेख किये हैं, वह भविष्यत् काल[1] में हैं ।

नैषधचरित और खण्डनखण्डखाद्य एक ही व्यक्ति की कृति

श्रीहर्ष ने जिस स्पष्टता से नैषध के कई सर्गों के अन्तिम श्लोक में अपने अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उस स्पष्टता से खण्डनखण्डखाद्य का उल्लेख नहीं किया । नैषध के टीकाकार नारायण पण्डित ने अन्य स्थानों पर अपनी टीका में श्रीहर्ष को अन्य ग्रन्थों का लेखक स्वीकार किया है; लेकिन षष्ठ सर्ग के अन्तिम श्लोक की टीका करते हुए, जिसमें कि खण्डनखण्डखाद्य के उल्लेख की बात कही जाती है, इस तरह का कोई संकेत नारायण पण्डित ने नहीं किया है जिससे यह समझा जा सके कि श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे' में अपने अन्यतम ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' का निर्देश किया है, इसलिये नैषधकार श्रीहर्ष को खण्डनखण्डखाद्य का लेखक मानने में कुछ सन्देह उत्पन्न हो जाता है । परन्तु केवल सन्देहमात्र से श्रीहर्ष को खण्डनखण्डखाद्य का लेखक होने से इन्कार नहीं किया जा सकता । नैषधकार को खण्डनखण्डखाद्य का लेखक सिद्ध करने के लिये अन्य अनेक युक्तियाँ दी जा सकती हैं जिनमें से मुख्य युक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :—

१—प्राचीन किंवदन्ती के अनुसार श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर का न्यायमतानुयायी श्री उदयनाचार्य से महान् वैमनस्य था और कहा जाता है कि श्रीहीर ने अपने पुत्र से अन्त समय यह अभिलाषा प्रकट की थी वह उदयनाचार्य को परा-

---

१. शेषं चेश्वराभिन्धौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्यामः श्रुतिप्रामाण्यं सिद्धार्थप्रामाण्यं चेश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते ।

जित करके उसकी आत्मा को शान्ति पहुँचाये। किंवदन्ती के अनुसार श्रीहर्ष ने उदयनाचार्य को परास्त किया था।[1] इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि श्रीहर्ष न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का खण्डन करता। खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में विशेषतः न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये वेदान्तमत की पुष्टि की गई है।

२—यदि किंवदन्ती पर विश्वास न भी किया जाये तो भी जो श्रीहर्ष ने नैषध-काव्य में न्यायसूत्रकार गोतम का उपहास किया है[2] और वेदान्तमत की ओर अपना झुकाव प्रदर्शित किया है, उससे भी नैषधकार ही 'खण्डनखण्डखाद्य' का लेखक प्रतीत होता है। नैषधकार ने अद्वैततत्त्व को ही परम सत्य कहा है।[3] वेदान्तशास्त्रानुकूल वह भी मुक्ति दशा को आनन्दस्वरूप मानता है।[4] उपनिषदों के समान श्रीहर्ष ने भी ब्रह्म के आनन्दस्वरूप की कल्पना की है।[5] उसके मत में योगियों का प्राप्य नामरूप रहित ब्रह्म ही है।[6]

३—'नैषधचरित' के प्राचीन टीकाकार चाण्डुपण्डित ने श्रीहर्ष को 'खण्डन' का लेखक कहा है। श्रीहर्ष और चाण्डुपण्डित में समय का अधिक अन्तर नहीं है, इसलिये उसका कथन पर्याप्त विश्वनीय है। 'प्रबन्धकोष' में भी श्रीहर्ष को 'खण्डन' आदि सैंकड़ों ग्रन्थों का लेखक कहा गया है।[7]

४—खण्डनखण्डखाद्य में एक प्रसंग में उसके लेखक ने नैषधचरित का निर्देश

---

१. प्रबन्धकोष, पृ० ५४—५५

२. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेत्येव यथा वित्थ तथैव सः॥ नैषध, १७·१५

३. श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यपरेऽपि लोकः।
नैषध, १३.३६

४. तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा।
सा संसारिमुक्तदशारसाभ्यां द्विस्वादुमुल्लासमभुक्तमिष्टम्॥ नैषध, ८·१५

५. सम्प्रतीयं भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव। नैषध, ५·८

६. प्रापुस्तमेकं निरूपाख्यरूप ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्। नैषध, ३.३

७. देखिये, हर्षकविप्रबन्ध, पृ० ५५।

करते हुये कहा है—'यथाहमकथयं नैषधीयचरितस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे' इससे निस्सन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि "नैषध" और 'खण्डनखण्डखाद्य' का लेखक एक ही व्यक्ति है।

४. नैषधकार श्रीहर्ष नाटिकाकार हर्षवर्धन से भिन्न

इस प्रसंग में पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना उचित होगा कि नैषध और खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थों का लेखक श्रीहर्ष, नागानन्द, प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिका के रचयिता और कान्यकुब्ज के अधीश्वर हर्षवर्धन (ई० स० ६०६–४८) से भिन्न है। नैषध के कवि का नाम श्रीहर्ष है, हर्ष नहीं। कवि ने काव्य के अन्त में उपसंहार के अन्तिम श्लोक में 'श्री श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम्' कहा है।

५. नैषध-काव्य और उसकी पूर्णता का प्रश्न

नैषध का संस्कृत काव्यों में प्रमुख स्थान है। इस काव्य का नाम नैषधीय-चरित या नैषधचरित है। कवि ने इसे 'वैरसेनिचरित'[1] और 'नलीयचरित'[2] भी कहा है। संक्षेप में इसे नैषध भी कहा जाता है। यह संस्कृत काव्यों में सबसे बड़ा काव्य है। इसमें निषध देश के राजा नल और विदर्भ देश की राज-कुमारी दमयन्ती की प्रेम कथा वर्णित है। इसमें २२ सर्ग हैं, जिनमें से केवल तीन सर्गों १३, १५, १९ में ही १०० से कम श्लोक हैं। १७ वें सर्ग में तो श्लोकों की संख्या २२२ तक पहुँच गई है। इसमें कुल श्लोक संख्या २८०४ है। श्रीहर्ष ने २१ प्रकार के छन्दों[3] का प्रयोग किया है, जिनमें छोटे छन्दों की अधिकता है। स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता और शिखरिणी जैसे बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया है।

---

१. नैषध, ७.११०

२. नैषध, १५.९३

3. Das Gupta Hist. of Sanskrit Litt., Vol.I. P. 329

काव्य की पूर्णता का प्रश्न

इतना बड़ा काव्य होते हुये भी इसमें महाभारत की नल दमयन्ती की कथा का बहुत थोड़ा भाग ही आ पाया है। किन्हीं विद्वानों[1] का विचार है कि नैषधचरित में पहले ६० या १२० सर्ग रहे होंगे, जो कवि के अन्य ग्रन्थों की भाँति लुप्त हो गये हैं। वर्तमान काव्य में कथा नल-दमयन्ती के विवाह पर समाप्त हो जाती है जितनी भी टीकायें उपलब्ध हैं, वे भी २२ सर्ग तक ही हैं। लेकिन काव्य के शीर्षक नैषधीयचरित' से ऐसा प्रतीत होता है कि नलचरित और आगे भी वर्णित किया होगा। यदि कवि की मौलिक रचना २२वें सर्ग पर ही समाप्त हो गई होती तो इसका शीर्षक 'नलदमयन्ती-विवाह' या दमयन्ती-स्वयंवर' जैसा देना उचित होता। दूसरे काव्य के सतरहवें सर्ग में कलि से जो प्रतिज्ञा कराई गई है, उसकी पूर्ति कहीं नहीं दिखलाई गई। यदि कवि को नल-दमयन्ती-विवाह पर ही काव्य समाप्त करना इष्ट होता तो कलिप्रसङ्ग की अवतारणा की क्या आवश्यकता थी ? इसके विपरीत, दूसरे पक्ष के विद्वानों का कथन है कि यद्यपि काव्य का शीर्षक कथा की दृष्टि ने उपयुक्त नहीं हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान नैषध-काव्य अपूर्ण है, क्योंकि २२वें सर्ग के श्लोक संख्या १४८ में 'श्रीरस्तु नस्तुष्टये' ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपने काव्य को समाप्त करना चाहता है। २२वें सर्ग की समाप्ति को प्रकट करने वाले १४९वें श्लोक के बाद वर्तमान उपलब्ध काव्य में ४ श्लोक परिशिष्ट के रूप में जुड़े हुए पाये जाते हैं, जो काव्य की समाप्ति प्रकट करते हैं, यद्यपि इन अन्तिम चार श्लोकों की मौलिकता में पूर्ण सन्देह है। नीलकमल भट्टाचार्य ने काव्य की अपूर्णता सिद्ध करते हुये इन अन्तिम चार श्लोकों को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। जितनी भी टीकायें उपलब्ध हैं वे सब २२ सर्ग तक ही हैं। यदि २२ सर्ग से आगे भी कवि ने रचना की होती तो कोई न कोई टीकाकार उस भाग पर भी अवश्य टीका करता।

जब तक कि काव्य का लुप्त समझा जाने वाला भाग उपलब्ध नहीं हो

---

१. नीलकमल भट्टाचार्य, Dr Watve & Krishnamachariar.

जाता है तब तक इस विषय में कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। यह समस्या इतनी जटिल है कि इस विषय में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता।

६. नैषध-काव्य की कथा का स्रोत और श्रीहर्ष द्वारा किये गये परिवर्तन

नैषध-काव्य की कथा महाभारत के अन्तर्गत वनपर्व के प्रसिद्ध नलोपाख्यान से ली गई है। महाभारत में २७ अध्यायों में नल की कहानी दी गई है, जिसे बृहदश्व के मुख से युधिष्ठिर को सुनाया गया है। नैषध-काव्य में २२ सर्गों में महाभारत के केवल पहले ६ अध्यायों में आई हुई कहानी ही अपनाई गई है। कवि ने महाभारत की मूलकथा को जैसे का तैसा ही रक्खा है, केवल जहाँ तहाँ वस्तु-वर्णन बढ़ा दिया है और कुछ घटना-संयोग और पात्रों के चरित्र-चित्रण में मामूली परिवर्तन कर दिया है।

कवि ने जो मुख्य परिवर्तन किये हैं, वह निम्नलिखित हैं :—

१—महाभारत की सरल वर्णनात्मक कथा को काव्य की आलङ्कारिक शैली में ढाल दिया गया है। महाभारत में जो कहानी केवल ६ अध्यायों में १८६ अनुष्टुप् छन्दों में कह दी गई है, श्रीहर्ष ने उसे २२ सर्गों में २८०४ श्लोकों में विस्तृत कर दिया है और २१ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।

२—नैषध-काव्य में रतिभाव उच्चतर-स्तर का है। यद्यपि महाभारत में भी रतिभाव ऐन्द्रियिकता के स्तर से ऊँचा उठ चुका था, फिर भी रतिभाव को जो उदात्तता और कलात्मक उत्कर्ष कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि कवियों ने प्रदान किया है, वह महाभारत में प्राप्त न था। श्रीहर्ष की दृष्टि में रतिभाव कर्त्तव्य और धर्म की भावना के साथ आबद्ध है।

३—श्रीहर्ष ने नल का चरित्र आदर्शोन्मुख चित्रित किया है। नैषध में वह हंस को विना किसी शर्त के दयार्द्रभाव से छोड़ देता है। परन्तु महाभारत में वह हंस को तब छोड़ता है जबकि हंस उसे दमयन्ती प्राप्त कराने की प्रतिज्ञा करता है। नैषध-काव्य में नल देवताओं का दूत-कर्म बड़ी निष्ठा से करता है और दमयन्ती से अपने आपको छिपाये रखता है लेकिन महाभारत

में जहाँ नल देवताओं के प्रस्ताव को दमयन्ती के सामने कर्त्तव्य-निष्ठ भावना से रखता है, वहाँ वह दमयन्ती पर अपना अनुराग प्रकट करने में भी पीछे नहीं रहता है।

४—महाभारत का हंस साधारण पक्षी है, लेकिन नैषध का हंस साधारण पक्षी नहीं है। वह कवि की अपनी रचना है और सुन्दर रचना है। वह एक शिष्ट और सुसंस्कृत मानव-सा प्रतीत होता है। उसका नल के साथ संवाद, उसके नल के प्रति कटु व्यंग्य, उसके परिवार की दयनीय दशा के वर्णन से जनित करुणा, उसकी बिना शर्त मुक्ति, उसका नल-हित-साधन का प्रस्ताव और तदनन्तर होने वाला हंस दमयन्ती संवाद, ये सब कवि की क्षमता को प्रकट करते हैं। इन स्थलों में कवि की प्रतिभा, विनोद-शीलता और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उद्भासित हो रही है। सचमुच तो, सारे काव्य में केवल इन्हीं स्थलों में कवित्व और सरसता परिलक्षित होती है।

५— सरस्वती को वर-परिचायिका के रूप में प्रस्तुत करना तथा अन्तिम ५ सर्गों में वर्णित नल दमयन्ती की काम-क्रीडायें कवि की अपनी कल्पना से उद्भूत हैं। पञ्चम सर्ग के बाद के लगभग सभी वर्णन—नल का दमयन्ती के भवन में चुपचाप प्रवेश (षष्टसर्ग), दमयन्ती का नख-शिख वर्णन (सप्तम सर्ग), सरस्वती द्वारा स्वयंवर में आये हुए राजाओं और देवताओं का वर्णन (सर्ग १०—१२), विवाह-विधि-वर्णन तथा विवाहोल्लासवर्णन (सर्ग १५—१६), चार्वाक का नास्तिक-सिद्धान्त और देवताओं द्वारा उसका खण्डन (१७वां सर्ग), और नलदमयन्ती की कामक्रीड़ायें (सर्ग १८—२२)—कविकल्पना की कृतियाँ हैं।

७. संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य-परम्परा और उसमें नैषध का स्थान

महाकाव्य का स्वरूप

अलङ्कार-शास्त्रों के अनुसार महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, उसमें कम से कम ८ सर्ग होते हैं, उसकी कथा इतिहास (रामायण या महाभारत) या पुराण से ली गई होती है। उसका नायक धीरोदात्त देव अथवा क्षत्रिय होता है, उसमें

सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, नगरी, मन्त्र, प्रयाण, रण, विवाह, कुमारजन्म आदि का यथास्थान वर्णन होता है। शृङ्गार, वीर अथवा शान्त[1] में से कोई एक रस प्रधान, तथा अन्य रस गौण होते हैं। शृङ्गार रस के दोनों भेद विप्रलम्भ और संभोग—महाकाव्य के विषय होते हैं। उनकी भाषा तथा शैली अलंकृत होती है।

महाकाव्य में कथा के प्रवाह का उतना महत्त्व नहीं होता है जितना कि अनुषङ्गिक वस्तुओं के सूक्ष्म वर्णन का। किसी महाकवि की मौलिकता का दिग्दर्शन इसी बात से होता है कि उसने पुरानी कथा को अपनी कल्पना से प्रसूत अलंकृत भाषा में गुम्फित वर्णन से कैसे अलंकृत किया है। वह विविध शास्त्रीय छन्दों का प्रयोग करता है और उसकी भाषा समास-बहुल होती है।

काव्य-शैली का विकास

संस्कृत साहित्य में पूर्णतया विकसित अलङ्कारपूर्ण काव्य-शैली का सर्वप्रथम दर्शन गिरनार के शिलालेख में होता है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण में उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अर्थालङ्कारों तथा अनुप्रास शब्दालङ्कारों का प्रयोग प्रभूत मात्रा में पाया जाता है, फिर भी रामायण की शैली अलङ्कारात्मक की अपेक्षा वर्णनात्मक अधिक है और महाभारत तो स्पष्ट ही वर्णनात्मक है जिसमें शैली और अलङ्कारों के लिये कोई स्थान नहीं। अश्वघोष ने भी अपने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द महाकाव्य में अलङ्कारयुक्त शैली का आश्रय लिया है। उसके काव्य भी सर्गबद्ध हैं और उनमें ऋतु, पर्वत आदि आनुषङ्गिक वस्तुओं का अलङ्कारयुक्त शैली में वर्णन पाया जाता है। लेकिन उसकी भाषा तथा शैली परिमार्जित नहीं है जैसी कि कालिदास या उसके उत्तरवर्ती कवियों की है। शैली और भाषा की दृष्टि से उसके काव्यों को रामायण और कालिदास के महाकाव्यों के बीच रक्खा जा सकता है।

---

१. शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते। साहित्यदर्पण ६.३१७

कालिदास
(लगभग ४०० ई०)
रघुवंश कुमार-
सम्भव

अलंकृत शैली में निबद्ध महाकाव्यों का सर्वोत्कृष्ट और अनुपम उदाहरण हमें कालिदास (लगभग ४०० ई०) के कुमारसम्भव और रघुवंश में मिलता है। वैसी परिमार्जित तथा अलंकृत भाषा और शैली में उतनी परिष्कृत रुचि के महाकाव्य न उसके पूर्ववर्ती कवियों ने लिखे हैं और न ही परवर्ती कवियों ने। उसका कुमारसम्भव, रघुवंश की अपेक्षा सरल, स्पष्ट और मार्मिक है, इसलिये आधुनिक रुचि के विद्वान् कवित्व की दृष्टि से कुमारसम्भव को रघुवंश से श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन यह अवश्य मानना पड़ेगा कि कालिदास के परवर्ती दण्डी के 'काव्यादर्श' में दिये गये महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार रघुवंश संस्कृतमहाकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। रघुवंश कालिदास की वृद्धावस्था की रचना समझी जाती है। कुमारसम्भव की अपेक्षा रघुवंश में कालिदास की उपमायें अधिक सूक्ष्म हो गई हैं, जो उसके पाण्डित्य को प्रदर्शित करती हैं। कालिदास संस्कृत साहित्य में काव्य-शैली का सर्वोत्कृष्ट लेखक माना जाता है। उसने अलङ्कारों का यथोचित प्रयोग किया है। दण्डी के लक्षण के अनुसार उसकी शैली वैदर्भी है, जिसमें लम्बे लम्बे समास नहीं होते। कालिदास की भाषा और छन्द, रस और भाव के अनुकूल होते हैं। उसने अपने उत्तरकालीन कवियों के समान किसी वस्तु या अवस्था का विस्तृत वर्णन नहीं किया है, वह केवल किसी स्थिति-विशेष का प्रभाव उत्पन्न करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें अतिशयोक्ति दोष का सर्वथा अभाव है जो कि परवर्ती काव्यों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है। यद्यपि कालिदास ने यमक शब्दालङ्कार का प्रयोग किया है फिर भी उसमें भारवि जैसी कृत्रिमता नहीं है। उपमालङ्कार के प्रयोग के लिये तो भारतीय परम्परा में कालिपास सर्वोत्कृष्ट माना ही जाता है। उसने अन्य अलङ्ककारों का प्रयोग भी समीचीत किया है। उसके अलङ्कार अर्थ को स्पष्ट करने वाले होते हैं।

भारवि
(६००ई० सन् से पूर्व)
किरातार्जुनीय

संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में समय और कवित्व दोनों ही दृष्टियों से कालिदास के बाद भारवि का स्थान है। भारवि (६०० ई० सन् से पूर्व) ने कालिदास के दोनों महाकाव्यों को अपना आदर्श बनाया और स्वयं अपने परवर्ती कवियों का आदर्श बना। भारवि का केवल एक काव्य किरातार्जुनीय ही है। किरातार्जुनीय की भाषा व्याकरण-सम्मत है और उसमें प्रकृति तथा नारी के सौन्दर्य का मनोरम चित्रण है। भारतीय परम्परा के पण्डितों में भारवि अर्थगौरव के लिये प्रसिद्ध है। किरातार्जुनीय में अन्य काव्य-गुणों के होते हुए भी सबसे बड़ा दोष यह है कि संस्कृत-काव्य में कृत्रिमता का सूत्रपात उसने ही किया है। भारवि ने ऐसे श्लोकों की रचना की है जिसमें एक या दो वर्णों का ही प्रयोग किया गया है तथा जिनकी पहली और दूसरी पंक्तियाँ बिल्कुल एक सी हैं। किरातार्जुनीय में कवित्व कम और अलङ्कारों की चमक अधिक है। भारवि कदाचित् अपने समय में अपनी चामत्कारिक शैली के कारण इतना अधिक पसंद किया गया था कि उसके परवर्ती कवियों ने कथावस्तु के प्रवाह और वास्तविक कवित्व की ओर ध्यान न देकर अलङ्कारों के प्रयोग और आनुषङ्गिक वस्तुओं के चित्रण में अद्भुत उत्प्रेक्षाओं की ओर अधिक ध्यान दिया और उत्तरोत्तरवर्ती कवियों में यह प्रवृत्ति अधिकाधिक होती चली गई।

भट्टि
(६००–७०० ई० सन्)
रावणवध

माघ और भारवि के बीच में समय-क्रम की दृष्टि से भट्टि का रावणवध या भट्टि-काव्य और कुमारदास का जानकीहरण यह दो महाकाव्य आते हैं। भट्टि का समय ई० सन् की छठी और सातवीं शताब्दी के मध्य-भाग के बीच में है। भट्टि-काव्य का कवित्व और शैली की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है। भट्टि-काव्य में कृत्रिमता किरातार्जुनीय की अपेक्षा और अधिक बढ़ी हुई है।

कुमारदास
जानकीहरण

कुमारदास का जानकीहरण मूल रूप में उपलब्ध नहीं है। सिंहली भाषा में प्राप्त उसके शब्दकोष के आधार पर उसकी पुनर्रचना की गई है। कुमारदास ने भारवि का अनुकरण न करके कालिदास का अनुकरण किया है। इस-

लिये संस्कृत-महाकाव्यों के क्रमिक विकास के अध्ययन में उसका अधिक महत्त्व नहीं है।

माघ
(लगभग ७०० ई० सन्)
शिशुपालवध

भारवि के बाद महत्त्वपूर्ण महाकाव्य, माघ (७०० ई० सन् के लगभग) का शिशुपाल-वध है, जिसे कवि के नाम पर 'माघ' भी कहा जाता है। माघ ने सर्वांश में भारवि को अपना आदर्श बनाया है। यद्यपि माघ में अपरिमित कवित्व-शक्ति द्योतित होती है, लेकिन उसने अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से काव्य न लिखकर परम्परागत नियमों का पालन करते हुए ही अपना काव्य लिखा है। इसलिये उसके काव्य में मौलिकता नहीं झलकती। उसने अधिकतर भारवि का ही अनुकरण किया है। भारवि के काव्य में जिस अलङ्कारिक-शैली, कल्पना-समृद्धि, चित्रबन्ध आदि कृत्रिमता तथा शब्दचातुर्य का दर्शन होता है, शिशुपाल-वध में वह और अधिक प्रकृष्ट अवस्था में पाया जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार माघ-काव्य के प्रथम ९ सर्गों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् पाठक को आगे साहित्य का अध्ययन करते समय कोई अपरिचित शब्द नहीं मिलेगा।[1]

श्रीहर्ष (ईसा की
१२वीं शती उत्तरार्ध)
नैषधचरित

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में काल-क्रम की दृष्टि से सबसे अन्तिम महत्त्वपूर्ण महाकाव्य श्रीहर्ष (१२वीं सदी का उत्तरार्ध) का नैषधचरित है। यद्यपि श्रीहर्ष के अतिरिक्त भी अनेक महाकवि उससे पहले और पीछे हुए हैं, लेकिन संस्कृत काव्यों के अध्ययन-अध्यापन में उनके काव्यों का कोई स्थान नहीं रहा है, इसलिये उनकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। कविता की दृष्टि से वह काव्य उल्लेखनीय भी नहीं है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रीहर्ष का नैषधकाव्य श्लोकों की संख्या के विचार से संस्कृत का सबसे बड़ा काव्य है। श्रीहर्ष को जो काव्य-शैली अपने पूर्ववर्ती लेखकों से मिली थी, और जो शैली उसके समय में समादृत थी, श्रीहर्ष ने उस

---

१. नवसर्गे गते माघे नवशब्दो न विद्यते।

शैली को विकास की चरमसीमा पर पहुँचा दिया है, उसने समास-युक्त लम्बे-लम्बे पदों का प्रयोग किया है, उसका कोई भी श्लोक ऐसा नहीं है जिसमें दो-तीन अलङ्कारों का समावेश न हो। उसका सारा काव्य आनुषङ्गिक वस्तुओं के कल्पना-प्रधान विस्तृत वर्णनों से भरा पड़ा है। उसने शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों का ही प्रयोग किया है, लेकिन वह अलङ्कारों का यथोचित प्रयोग नहीं कर पाया है। उसकी उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं में नवीनता और सूझ होती है, लेकिन उनमें स्पष्टता का प्रायः अभाव है। नल का आकार धारण किये हुए देवताओं का दमयन्ती को परिचय कराते समय सरस्वती के मुख से उसने जो पद्य कहलाए हैं, उनमें वह कृत्रिम काव्य-शैली के उत्कर्ष पर पहुंच गया है। कदाचित् राघवपाण्डवीय, राघवनैषधीय आदि द्विसन्धान काव्यों के लेखकों को श्रीहर्ष से ही प्रेरणा प्राप्त हुई हो। यद्यपि श्रीहर्ष के पूर्ववर्ती महाकवियों ने भी श्लेष अलङ्कार का प्रयोग किया है, लेकिन जिस तरह निरन्तर १८ श्लोकों में श्लेष का प्रयोग श्रीहर्ष ने किया है, वैसा केवल उसके परवर्ती कवियों में ही पाया जाता है। यह प्रवृत्ति पाण्डित्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो कि परवर्ती कवियों में अधिकाधिक होती चली गई है। श्रीहर्ष के काव्य में प्रायः भाव और अर्थ की अस्पष्टता और शैली की दुरूहता है, फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं[1], जो प्रसादगुणयुक्त हैं, सरस हैं और पाठक को उनके परिश्रम का पूरा पारितोषिक दे देते हैं। श्रीहर्ष पूर्ववर्ती भारवि और माघ में वह सरसता नहीं मिलती है। इसलिये सरसता की दृष्टि से महाकवियों में श्रीहर्ष का स्थान कालिदास से दूसरा माना जा सकता है।

इस तरह ऊपर के विवेचन से प्रकट है कि संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में उत्तरोत्तरवर्ती महाकवियों के काव्यों में वास्तविक कविता का अभाव होता चला गया है और कवियों ने निरपवाद रूप से कविता की अन्तरात्मा रस, भाव, मार्मिकता तथा कथा प्रवाह की ओर ध्यान न देकर शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुये अपनी अद्भुत कल्पनाशक्ति को बे-रोकटोक उड़ान भरने का अवसर देकर आनुषङ्गिक और कभी कभी अप्रासङ्गिक वस्तुओं के कल्पनाओं

१. उदाहरणार्थ : हंस-विलाप, हंस-दमयन्ती-संवाद।

से रंगे विस्तृत वर्णनों से मुख्य कथा को विशृङ्खलित कर दिया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन काव्यों में कथा-प्रवाह पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। कवियों ने अपनी अपूर्व कल्पनाओं और समासयुक्त सानुप्रास सङ्गीतमयी चारु पदावलियों से ही अपने पाठकों को चमत्कृत करने का प्रयत्न किया है। उनकी भाषा और शैली कठिन से कठिनतर होती चली गई है। कालिदास के परवर्ती काव्यों में सरलता और प्रसाद का अभाव होता चला गया है। पाँचों महाकव्यों में नैषध काव्य-शैली की कृत्रिमता और दुरूहता में सबसे बढ़कर है। आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में नैषध में महाभारत की सुन्दर कथा विकृत कर दी गई है[1]। लेकिन जिस युग में यह काव्य लिखे गये है उस समय के काव्य के आदर्शों से यदि हम नैषध-काव्य को देखें तो निस्सन्देह यह काव्य अपनी श्रेणी का सर्वोत्कृष्ट काव्य है। इसीलिए तो परम्परा से यह उक्ति चली आती है—'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्वः च भारविः'। कदाचित् नैषध-काव्य की अपने समय में भी दुरूहता के लिये कटु आलोचना हुई होगी, इसलिए तो कवि को अपने प्रतिस्पर्धियों की भर्त्संना करनी पड़ी थी। वह युग ही ऐसा था, जिसमें सुगम काव्य का कोई मूल्य नहीं था और कवियों को इस बात की चिन्ता नहीं थी कि उन्हें कोई पाठक नहीं मिलेगा। वे अपने काव्यों को केवल चुने हुए रसिकों तक ही परिमित रखना चाहते थे। इसलिये तो श्रीहर्ष ने कहा था—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठितीमास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुः श्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जन विधिव्यासज्जनं सज्जनः॥

८. श्रीहर्ष का व्यक्तित्व और उसके काव्य की समीक्षा

आधुनिक समालोचकों ने, विशेषतः यूरोपीय विद्वानों ने और उनके ही समान दृष्टि वाले भारतीयों ने भी—जो काव्य में कथा-प्रवाह घटनाक्रम

---

१. दास गुप्तः हिस्टी आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग १।

का स्वाभाविक विकास, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और भाषा की विशदता खोजने के अभ्यस्त हैं—भाषा की दुर्बोधता, कल्पनाओं की दुरूहता, शैली की कृत्रिमता, शब्द-क्रीडा की अतिशयता, वस्तुविन्यास के असौष्ठव, आनुषङ्गिक वस्तुओं के अनावश्यक विस्तृत वर्णन तथा हास्य की ग्राम्यता के लिये नैषध-काव्य की कटु आलोचना की है। लेकिन आधुनिक आदर्शों के आधार पर किसी प्राचीन कृति को परखना उसके साथ अन्याय है। जो कृति जिस युग की है, हमें उसी युग की संस्कृति तथा समाज के आदर्शों और प्रवृत्तियों की दृष्टि से उस कृति को परखना चाहिए।

कवि का व्यक्तित्व

श्रीहर्ष स्वाभिमानी कवि है। उसे अपनी विद्वत्ता और काव्य की सरसता पर गर्व है। अरसिकों की कटु आलोचना से वह हतोत्साह नहीं हुआ है, प्रत्युत उनकी तीव्र भर्त्सना करता हुआ अपने पथ पर बढ़ा है[1]। उसने अपने काव्य को अमृत उत्पन्न करने वाला क्षीरसागर कहा है[2]। कवि ने जानबूझ कर अपने काव्य को जहाँ-तहाँ कठिन कर दिया है जिससे कि कोई पण्डितम्मन्य खल उसका रसास्वादन न कर सके। कवि सरलता के आधार पर अपने काव्य की लोकप्रियता का पक्षपाती नहीं है। वह तो केवल ऐसे रसिक सज्जन पाठक चाहता है जो श्रद्धापूर्वक गुरु की आराधना करके काव्यगत दुरूह ग्रन्थियों को सुलझा कर काव्यरसतरङ्गिणी में स्नान करना चाहते हों।[3] श्रीहर्ष का कथन है कि अपने काव्य में उसने एक सर्वथा नवीन पथ का अनुसरण किया है।[4]

श्रीहर्ष गम्भीर प्रकृति का कवि है। उसने तर्कशास्त्र में अप्रतिम परिश्रम

---

१. मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः, किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादररभरैः ? नैषध, २२. १५०

२. स परम्परः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीयते मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्। नैषध, २२. १५१

३. ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि···इत्यादि। नैषध, २२/१५२

४. कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महाकाव्ये चारुणि। नैषध, ८.१०९

किया है ।[1] वेदान्तदर्शन की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । उसने न्याय सिद्धान्तों के खण्डन और वेदान्त-मत के मण्डन में खण्डनखण्डखाद्य नाम का वेदान्तग्रन्थ भी लिखा है । इसके अतिरिक्त नैषध-काव्य में भी ऐसे प्रसंग हैं जिनसे वह दर्शन-सम्प्रदाय में वेदान्त-मतावलम्बी ज्ञात होता है । श्रीहर्ष धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति है । वह संसारी सुखों को हेय समझता है । नैषध के १७वें सर्ग में उसकी यही भावना झलकती है ।

वेदान्तमत के अतिरिक्त श्रीहर्ष ने प्रसङ्गवश न्याय, मीमांसा, सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि अन्य दार्शनिक मतों का भी नैषध काव्य में उल्लेख किया है[2] ; लेकिन इस चातुरी से कि दर्शन के नीरस वादों की शुष्कता का पाठक को अनुभव नहीं हो पाता है । नैषध-काव्य में शास्त्रीय विषयों के उपयोग से कवि के प्रकाण्ड पाण्डित्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का पता चलता है । श्रीहर्ष यद्यपि गम्भीर प्रकृति का दार्शनिक कवि है, तथापि श्रीहर्ष के काव्य में व्यङ्ग्य और विनोद का अभाव नहीं है । कदाचित् विनोदप्रियता में कोई भी महाकवि श्रीहर्ष की समानता नहीं कर सकता ।

श्रीहर्ष के जीवन का अधिक भाग ग्रन्थनिर्माण में ही व्यतीत हुआ प्रतीत होता है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्रीहर्ष ने नैषध-काव्य के अतिरिक्त ९ ग्रन्थ और लिखे हैं, यद्यपि उनमें से केवल एक ग्रन्थ खण्डनखण्डखाद्य ही उपलब्ध है । श्रीहर्ष की संस्कृत वाङ्मय को अमूल्य देन है । नैषध-काव्य और खण्डनखण्डखाद्य में से कोई भी एक ग्रन्थ श्रीहर्ष को संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में अमर कर देने के लिये पर्याप्त था । जिस प्रकार नैषध-काव्य का संस्कृत-काव्यों में उच्च स्थान है, उसी प्रकार खण्डनखण्डखाद्य का भी वेदान्त के ग्रन्थों में प्रमुख स्थान है ।

विषय और उसका निर्वाह

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नैषध-काव्य की कथावस्तु महाभारत के अन्तर्गत नलोपाख्यान से ली गई है । कवि ने नलोपाख्यान की सारी कथा न लेकर उसके केवल थोड़े से अंश को ही अपने काव्य का विषय बनाया है । महाभारत

---

१. तर्केष्वप्यसमश्रमस्य······। नैषध, १०.१३७
२. See, K. K. Handiqui : Naishadha Charita, Appendix I, pp. 493 ff.

में कथा का मुग्धकारी भाग नल पर आपत्ति पड़ने पर दमयन्ती की पति के प्रति एकनिष्ठ भक्ति है, लेकिन श्रीहर्ष ने कथा के इस भाग को छोड़ दिया है। श्रीहर्ष की दृष्टि जीवन के हर्षोल्लासों पर हो गई है, संकटों पर नहीं। नैषध-काव्य नल-दमयन्ती के विवाहोत्सव और दाम्पत्य प्रेम की क्रीड़ाओं के वर्णन पर समाप्त हो गया है। कथा में प्रेम के त्रिकोण को चित्रित किया गया है, जिसमें नायक-नायिक के अतिरिक्त इन्द्र ने खलनायक की भूमिका धारण की है। लेकिन इन्द्र विशेष प्रकार का खलनायक है, जो पहले दमयन्ती का प्रेम पाने की योजनायें बनाता है, परन्तु अपनी योजनाओं में असफल होने पर नल-दमयन्ती में दाम्पत्य-प्रेम की समृद्धि एवं सफलता के लिये सच्चे हृदय से आशीर्वाद देकर अपने साथी देवताओं सहित लौट जाता है।

श्रीहर्ष ने स्वयं कहा है कि उसने नैषध-काव्य की रचना में नूतन काव्य-मार्ग का आश्रय लिया है[1], उसने नवीन अर्थ और घटनाओं की योजना की है[2], उसकी कृति 'अतिनव्य' है[3] और उसका काव्य अन्य कवियों द्वारा 'अक्षुण्ण रसप्रमेय' का कथन करने वाला है[4]। उसने अपने काव्य को 'कृशेतरस्वादु' और 'शृङ्गारामृतशीतगु' कहा है।

नैषध-काव्य में श्रीहर्ष का मार्ग वस्तुत; किन्हीं अंशों में उसके समकालीन और पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न है। नैषध-काव्य अलङ्कारशास्त्र के नियमों से पूर्णतः आबद्ध नहीं है। नैषध में महाकाव्य के लक्षणों को बलात् घुसाने का प्रयत्न नहीं किया गया है, केवल प्रसङ्गानुकूल वस्तुओं का ही वर्णन किया गया है। इस दिशा में श्रीहर्ष भारवि और माघ से भिन्न है। भारवि और माघ ने यथासम्भव महाकाव्य के सभी लक्षणों को स्थान देने का प्रयत्न किया है।

---

१. कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते... ..।
नैषध, ८.१०९

२. एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्......। नैषध, १९.६८

३. तस्यागादयमेकविंशगणनः काव्येऽतिनव्ये कृतौ...। नैषध, २१.१६३

४. अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणितौ...। नैषध, २०.१६२

नैषध-काव्य में युद्ध, मन्त्रणा, कुमार-जन्म, जल-क्रीड़ा, पुष्प-चयन मद्य-पान, ऋतु और समुद्र आदि के वर्णनों को, जो कि अलङ्कारशास्त्र के अनुसार महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों में से हैं—छोड़ दिया गया है, यद्यपि कथा-प्रसङ्ग में इनमें से कम से कम कुछ का वर्णन अवश्य दिया जा सकता था। नैषध-काव्य में वीर, भयानक और रौद्र रस का चित्रण भी नहीं किया गया है।

श्रीहर्ष की दूसरी नवीनता यह है, जबकि अन्य महाकाव्यों में वीर रस प्रधान तथा शृङ्गार, हास्य और करुण आदि रस गौण होते हैं, नैषध में प्रधान रस शृङ्गार है। नैषध-काव्य में शृङ्गार रस के दोनों भेद—विप्रलम्भ और सम्भोग का सुन्दर परिपाक हुआ है। नैषध के प्रथम सर्ग में नल के प्रति दमयन्ती के पूर्वानुराग की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'नल' पद मात्र का श्रवण उसे उत्सुक कर देता है।[1] दमयन्ती के गुणों पर मुग्ध नल की वियोग-दशा का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। नारी-सौन्दर्य के वर्णन में और शृङ्गार रस की मधुर व्यञ्जना में श्रीहर्ष ने विलक्षण सहृदयता का परिचय दिया है। दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य के चित्रण में चन्द्रमा के कलङ्क के विषय में क्या ही अनूठी सूझ है—

> हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
> कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २.२५

ब्रह्मा ने दमयन्ती के मुख की रचना के लिये इन्दुमण्डल का सारभाग ले लिया है, इसीलिये उसके बीच में से पृष्ठ में स्थित नभ की नीलिमा दिखलाई पड़ती है।

दमयन्ती के उरोजों के ऊपर कवि की कल्पना देखिये—

> अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
> स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ ॥ २.३१

दमयन्ती का शरीर कान्ति के झरनों से अगाध हो गया है, उसमें बहते हुए कामदेव और यौवन के लिये उसके कुच प्लवन-कुम्भ बनते हैं।

---

१. नैषध, १.३५

कलशे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ।
स तदुच्चकुचौ भवन्प्रभाभरचक्रभ्रममातनोति यत् ॥ २-३२

कुम्भ में, मानो, अपने निमित्तकारण दण्ड का चक्रवत् घुमाने का गुण आ गया है, इसीलिये तो दमयन्ती के कुचों के रूप में स्थित कुम्भ प्रेक्षकों की दृष्टि को चक्रतुल्य घुमाता है ।

श्रीहर्ष का शृङ्गार यद्यपि ऐन्द्रियिक और वासनामय है, लेकिन वह कर्त्तव्य और धर्म की दृढ़ भित्ति पर आधारित है । श्रीहर्ष ने काव्य के नायक नल के चरित्र-चित्रण में शृङ्गार-वासना पर कर्त्तव्य और धर्म की भावनाओं की विजय दिखलाई है । नल दमयन्ती के विरह में अतिसन्तप्त है, वह अपने प्रति दमयन्ती के दृढ़ अनुराग और आसक्ति को जानता है, फिर भी जब वह प्रतिज्ञा-बद्ध होकर देवताओं का दूत होना स्वीकार कर लेता है तो उसे सच्चे हृदय से निभाता है ।

नैषध के प्रथम सर्ग में हंस-विलाप-वर्णन में करुण रस की भी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । हास्य रस में तो कोई महाकवि उसके समान है ही नहीं, लेकिन दमयन्ती के विवाहोपरान्त होने वाले भोज के वर्णन में उसका हास्य ग्राम्य और अश्लील हो गया है ।

भाषा और शैली

श्रीहर्ष प्रकाण्ड विद्वान् कवि है । भाषा और शैली पर उसका पूर्ण अधिकार है वह शब्दों के मधुर और चमत्कारी विन्यास में निष्णात है । प्राचीन पण्डितों में वह पदलालित्य के लिए प्रसिद्ध है—'नैषधे पदलालित्यम्' । श्रीहर्ष की काव्य-शैली प्रायः वैदर्भी है । यह अवश्य है कि श्रीहर्ष की वैदर्भी कालिदास की वैदर्भी के समान प्रसादगुणयुक्त नहीं है । नैषध-काव्य में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो कालिदास के अच्छे से अच्छे श्लोक से टक्कर ले सकते हैं । प्रथम सर्ग में हंस-विलाप (श्लोक संख्या ८५—१२७) और द्वितीय सर्ग में हंस का कृतज्ञता-प्रकाशन (श्लोक संख्या ६—१५) वैदर्भी रीति के सुन्दर उदाहरण हैं । 'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैः' में कवि का वैदर्भी रीति के प्रति भी संकेत प्रतीत होता है ।

नैषध-काव्य में प्रसादगुण का अभाव है। श्रीहर्ष ने पौराणिक कथाओं तथा अन्य शास्त्रीय विषयों का प्रभूत मात्रा में उपयोग किया है, इसलिए उसके काव्य की रसानुभूति के लिए पाठक को परिश्रम करना पड़ता है। कहीं-कहीं काव्य में लम्बे लम्बे समास[1] हैं और भाव भी अस्पष्ट[2] एवं जटिल हैं। दार्शनिक विषयों के समावेश के कारण भावों की जटिलता और भी अधिक बढ़ गई है। कहीं-कहीं शब्दों का इतनी मितव्ययिता से प्रयोग किया है कि उसकी भाषा भाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं रही[3]।

अलङ्कार श्रीहर्ष ने नैषध-काव्य में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों प्रकार के विविध अलङ्कारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। शब्दालङ्कारों में श्लेष, यमक और अनुप्रास आदि सभी अलङ्कारों का सुन्दर विन्यास किया है। अनुप्रास की छटा तो सारे काव्य में ही फैली हुई है, एक नमूना देखिये —

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अधिसाधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ २.६२

यमक अलङ्कार के भी विविध भेदों का प्रयोग किया है। यमक की छटा द्वारा कामदेव की कैसी स्तुति की गई है—

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।

---

१. सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्त्तिमण्डलः। नैषध, १.२
स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ॥ नैषध, १.९

२. शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥
नैषध, १.५२

मल्लिनाथ और नारायण ने इस श्लोक की कई प्रकार से व्याख्या की है, लेकिन कोई भी व्याख्या सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होती।

३. नैषध, २.१०४.

पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मदं वः ॥११.२५

श्लेष अलङ्कार से तो कवि को विशेष अनुराग है। नैषधकाव्य का 'पञ्चनली' प्रकरण प्रसिद्ध ही है। शब्दों के चातुर्यपूर्ण विन्यास से एक ही श्लोक से वर्णनीय देवता और नल का द्व्यर्थक शब्दों में साथ साथ वर्णन किया गया है, जिससे वेचारी दमयन्ती भी द्विधा में पड़ गई। एक श्लोक[1] में तो दमयन्ती की कामना से नलरूपधारी इन्द्र आदि चारों देवताओं और नल का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी श्लेष का बहुतायत से प्रयोग किया है। कोलाहलमयी कुण्डिनपुरी के वर्णन में श्लेष की महिमा देखिये, स्वर्ग और उस नगर में कुछ भेद ही नहीं रहा—

स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२.९८॥

नैषध काव्य में शब्दालङ्कारों की भाँति अर्थालङ्कारों की भी अतुल समृद्धि है। श्रीहर्ष ने कवि-संप्रदाय में साधारणतया प्रचलित उपमानों का उपयोग न करके पौराणिक कथाओं और अन्य शास्त्रों से नये उपमान लिये हैं। व्याकरणशास्त्र से लिया गया उपमान देखिये:—

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥२.९५॥

शत्रु द्वारा दुर्जय कुण्डिनपुरी के चारों ओर परिखा के व्याज से कुण्डली लगा दी गई है, जैसे पतञ्जलि के महाभाष्य की उस फक्किका पर जो समझ में नहीं आती है वर्तुलाकार रेखा खींच दी जाती है।

नवयौवन ने दमयन्ती के नलासक्त हृदय में प्रेमभाव का संचार करा दिया। इस प्रसंग में कवि ने पौराणिक कथा का कैसी चातुरी से उपयोग किया है—

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥१.३२॥

१. नैषध, १३.३४

जैसे प्रद्युम्नावतार में सर्पभक्षी गरुड ने बाणासुर के अग्नि-परिवेष्टित नगर में मदन का प्रवेश करा दिया था, उसी प्रकार नवयौवन ने दमयन्ती के नलावरुद्ध हृदय में मदन (प्रेम) का प्रवेश करा दिया।

श्रीहर्ष की कल्पनाशक्ति विलक्षण रूप से उर्वरा है! उसकी कल्पनायें अनूठी और सर्वथा नवीन होती हैं। चन्द्रमा के कलङ्क पर कैसी सुन्दर कल्पना है—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥१.८॥

राजा नल के अभियान के समय सेना ने जो धूल उड़ाई, वह अमृतसिन्धु में गिरी और कीचड़ बनकर क्षीरसागर से उत्पन्न होने वाले चन्द्रमा पर लग गई। वह धूल ही चन्द्रमा में कलङ्क है।

श्रीहर्ष ने अतिशयोक्ति, विरोधाभास, दृष्टान्त, स्वभावोक्ति और समासोक्ति आदि अर्थालङ्कारों का भी समुचित प्रयोग किया है। अर्थान्तरन्यास के रूप में शाश्वत सत्य का उद्घाटन करने वाले सुभाषितों का भी नैषध में अभाव नहीं है।

नैषध-काव्य के प्रथम तथा द्वितीय सर्ग में आये हुये कुछ संग्रहणीय सुभाषित दिये जाते हैं—

त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥१.५०॥
क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥१.१०२॥
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१.१३१॥
अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषविदुषामिह ग्रहः ॥२.१८॥
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥२.४४॥
ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ॥२.४८॥
स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥२.६१॥

श्रीहर्ष ने अपनी कविता-कामिनी को विविध अलङ्कारों से विभूषित किया

है। यदि कहीं हृदय तक सीधी पहुंचने वाली स्वभावोक्ति है तो कहीं बुद्धि को चमत्कृत कर देने वाली उत्प्रेक्षा। नैषध-काव्य में उत्प्रेक्षालङ्कार की अधिकता है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, श्रीहर्ष की उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में सूक्ष्मता और चमत्कार अधिक होता है, क्योंकि उसने अपने उपमान अधिकतर शास्त्रों से लिये हैं, वे भाव को स्पष्ट करने वाले नहीं होते। उसके अलङ्कार में यही एक दोष है।

छन्द

जैसा कि महाकाव्य में होता है, उसने अपने काव्य में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा शार्दूलविक्रीडित आदि बड़े छन्दों का उपयोग किया गया है, लेकिन बहुत ही सीमित मात्रा में। श्रीहर्ष के छन्दों के विषय में टिप्पणी करते हुए प्रो० दासगुप्त ने लिखा है—

"His metrical skill is also considerable…but his predilection towards harsh and recondite forms of words and phrases does not always make his metres smooth and tuneful"[१].

अर्थात् उसका (श्रीहर्ष का) छन्दोविषयक नैपुण्य पर्याप्त है,……परन्तु उसका ध्यान कठिन एवं श्लिष्ट शब्दों एवं शब्द समूह के प्रयोग की ओर रहता है, भले ही वे कर्णकटु क्यों न हो, इसलिये उसके छन्दों में लय और गति का कभी-कभी अभाव पाया जाता है।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

श्रीहर्ष को मानवीय मानस जगत् का अच्छा ज्ञान है। उसने विभिन्न परिस्थियों में सूक्ष्म मनोभावों का बड़ी चतुरता से चित्रण किया है। उसने वाह्य परिस्थितियों के मन पर होने वाले प्रभाव के वर्णन में अतिकौशल प्रदर्शित किया है। उसका वाह्य वस्तुओं का वर्णन प्राय: अपने पात्रों की मानसिक दशा के अनुरूप होता है। प्रथम सर्ग में नलोद्यान का वर्णन नल को विरह अवस्था में सर्वथा अनुरूप है। विरही नल का उद्यान में स्थित दाडिमी (अनार का वृक्ष) भी अपने समान विरहिणी प्रतीत होती है। दाडिमी के

१. Dasgupta: Hist. Of Sanskrit Lit. V. I. P. 329.

कण्टक, प्रिय की स्मृति से उत्पन्न पुलक हैं और दाडिम फल को तोड़कर खाने वाले शुक की लाल चोंच वक्षस्थल में प्रविष्ट कामदेव का बाण है। दूसरी ओर कुण्डनपुरी के वर्णन में कवि ने नगरी की समृद्धि और नगरवासियों के आमोद प्रमोद का ही वर्णन किया है, जो कि सखियों के साथ क्रीडा करती हुई दमयन्ती की मनोदशा के अनुरूप ही है। जब इन्द्र आदि देवता दमयन्ती को अपनी ओर अभिमुख करने के लिये नल को अपना दूत बनाते हैं, तब नल के हृदय में कर्तव्य और प्रेम की भावनाओं के मध्य होने वाले संघर्ष का कवि ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। श्रीहर्ष ने यह भी प्रदर्शित किया है कि मानवीय अन्तःकरण किस प्रकार कार्य करता है। दमयन्ती ने अपने हृदय में नल को अपना पति बना लिया है, इसलिये स्वप्नजगत् में वह नल को सब जगह देखती है, यद्यपि उसने नल को कभी साक्षात नहीं देखा है[1]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर श्रीहर्ष ने नल की उन्माद अवस्था का मार्मिक चित्रण किया है। नल स्वयं दमयन्ती को प्राप्त करना चाहता है, लेकिन इन्द्र आदि देवताओं के अनुरोध पर उसे देवताओं में से किसी एक का वरण करने के लिये दमयन्ती को तैयार करना है। नल दमयन्ती की प्राप्ति के प्रति निराश हो जाता है। निराशा की गहन छाया नल के हृदय पर दमयन्ती की मोहिनी मूर्ति की अमिट छाप बैठा देती है और उसे सब जगह केवल दमयन्ती ही दिखलाई देने लगती है। देवताओं के प्रति कर्तव्य-निष्ठा की भावना से वह विभ्रमवश दिखलाई पड़ने वाली दमयन्ती को देवताओं का सन्देश सुनाने लगता है[2]। जब उसकी बड़बड़ाहट को सुनकर युवतियों के डर कर भागने का शब्द होता है, तो उसे वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रकृति चित्रण श्रीहर्ष में वस्तुवर्णन का अपार कौशल है। उसके वर्णन सुन्दर और हृदयग्राही होते हैं, जिनमें कल्पना का वैभव बिखरा होता है। नैषध-काव्य में प्रकृति-चित्रण की भी

---

१. मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्॥ नैषध, १.३९

२. प्रियां विकल्पोपहृतां स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम्। नैषध,६.१७

छटा है। नलोद्यान तथा चन्द्रोदय वर्णन में कवि ने प्रकृति-चित्रण की प्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है। श्रीहर्ष की प्रकृति चेतन है और वह मानवीय मनोभावनाओं से युक्त है। मानव के समान वह भी प्रिय के वियोग में सन्तप्त[1] और प्रिय-समागम में हर्षोल्लसित होती है। वियोगी और शोक-सन्तप्त जनों की करुण कथा सुनकर उसका हृदय समवेदना से भर जाता है और वह उनकी दु:ख भरी दशा को सुन भी नहीं सकती[2]।

श्रीहर्ष ने प्रकृति का उद्दीपन विभाव के रूप में ही चित्रण किया है, आलम्बन के रूप में नहीं। इसलिये उसके प्रकृति-वर्णन प्राय: शृङ्गारिक कल्पनाओं से सन्निविष्ट हैं। नैषध-काव्य में प्रकृति के शुद्ध स्वरूप की भव्यता का दर्शन नहीं मिलता।

व्यङ्ग्य विनोद

श्रीहर्ष प्रकाण्ड विद्वान् और दार्शनिक हैं; लेकिन विद्वत्ता और दार्शनिक प्रवृत्ति ने जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को निराशावादी नहीं बनाया है। वह वेदान्तानुयायी होते हुए भी सांसारिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है। जीवन के आमोद-प्रमोद और हर्षोल्लास के प्रति उसकी दृष्टि बन्द नहीं है। उसमें जीवन की सजीवता और सरसता है। उसकी विनोद-भावना सर्वदा जागरूक है। कोई भी विनोद का अवसर उसकी पैनी दृष्टि से नहीं बच पाता। विनोदप्रियता और व्यङ्ग्य के चुटकीलेपन में संस्कृत का कोई भी महाकवि श्रीहर्ष की बराबरी नहीं कर सकता। नैषध-काव्य में सब प्रकार के हास-परिहास और व्यङ्ग्य-विनोद दृष्टिगोचर होते हैं। स्वयंवर में आये हुए राजकुमारों का वर्णन व्यङ्ग्य के माधुर्य से सजीव हो गया है। १७वें सर्ग में चार्वाक के मुख से ब्राह्मण-धर्म के क्रिया-

---

१. वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतैः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।

नैषध, १·८१

२. पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतै र्दशामुदञ्चत्करुणां वियोगिनाम्।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः॥

नैषध, १·८८

कलापों तथा मन्तव्यों—गङ्गास्नान, गोब्राह्मणपूजन, तिलकपुण्ड्रधारण, पुनर्जन्म और स्वर्ग आदि का उपहास किया गया है, व्यास पर कीचड़ उछाली गई है, पाणिनि गोतम आदि को फबतियाँ सुनाई गई हैं और विष्णु आदि देवों के महात्म्य का खोखलापन प्रकट किया गया है, जिनमें हास्य, उपालम्भ एवं विनोद का अच्छा पुट है। ब्रह्मचर्यपालन की व्यर्थता में पाणिनि के सूत्र का विनोदपूर्ण प्रमाण दिया गया है—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ १७·१०

'अपवर्गे तृतीया' सूत्र को बनाने वाले पाणिनि का यही मत है कि स्त्री और पुरुष दो प्रकार की प्रकृति काम का सेवन करे और तृतीया (अर्थात् नपुंसक) प्रकृति मोक्ष का सेवन करे अर्थात् मोक्ष तो केवल नपुंसकों के लिये है।

मोक्ष की सुख-दुःख-शून्यता का प्रतिपादन करने वाले गोतम पर कैसी चोट की है—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ॥ १७·७५

सहृदय प्राणियों के लिये जो सुख-दुःख शून्य-पाषाण रूप-मुक्ति का उपदेश करे, वह 'गोतम' (अर्थात् निरा बैल) के सिवाय और क्या हो सकता है ?

शास्त्रों में महाभारत को पाँचवाँ वेद कहा गया है। लेकिन चार्वाक के मुख से व्यास की मान्यता की कैसी धज्जी उड़ाई गई है—

पण्डितः पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटुः कविः।
निनिन्दतेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम् ॥
न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत्।
दासीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ॥ १७·६५-६६॥

भला कहीं व्यास-वचन भी प्रमाण हो सकता है ? वह तो ऐसा खुशामदी है कि यदि आश्रयदाता पाण्डव किसी की निन्दा करते हैं तो स्वयं निन्दा करते

लगता है और यदि पाण्डव किसी की प्रशंसा करते हैं तो प्रशंसा करने लगता है। वह ऐसा आचरणहीन है कि उसने कामवासना से भाई की पत्नी के साथ गमन किया। यदि कोई कहे कि इसमें व्यास का क्या दोष है, उसने तो माता के आदेश का पालन किया था, तो क्या दासी के साथ गमन करने के लिये भी माता ने ही कहा था ?

बीसवें सर्ग में नवपरिणीता लज्जाशीला दमयन्ती के साथ उसकी सखियों का वार्तालाप भी परिहासपरिपूर्ण है। १६वें सर्ग में विवाहोपरान्त होने वाले भोज में अतिथियों और युवक-युवतियों की आपस की छेड़छाड़, शृङ्गारिक चेष्टायें तथा हस्तसंकेत परिहासयुक्त हैं।

इन स्थानों के अतिरिक्त भी, जहाँ-तहाँ शिष्ट-परिहास युक्त, गुदगुदाने वाली स्थितियों की अभिव्यञ्जना हुई है। कुण्डिनपुरी के बाजारों में कस्तूरी के लोभी भ्रमरों को कस्तूरी समझ कर तौलने वाले वणिक् को देखकर हंसी बिना आये न रहेगी—

भ्रमभेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
पणिता न जनारवैरवैदपि गुञ्जन्तमलिं मलीमसम् ।। २·९२।।

धर्मानुष्ठान में लगा हुआ, बूढ़ा शक्की ब्रह्मा मौन के व्याज से वाणी (सरस्वती) को ताला लगाकर रखता है कि कहीं वह नल पर अनुरक्त न हो जाये। परन्तु वेदाभ्यास से जडमति ब्रह्मा को यह पता ही नहीं कि धूर्त सरस्वती पहले ही नल का कण्ठश्लेष करके रसतृप्त हो चुकी है—

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम्।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्तां न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ।।३·३०।।

चरित्र-चित्रण

नैषध-काव्य में पात्र-संख्या बहुत कम है, काव्य का कार्य कवि-कल्पना-प्रसूत वर्णनों से बढ़ा हुआ है। पात्रों की चरित्रगत विभिन्नता एवं विशेषता के चित्रण की ओर कवि ने बहुत कम ध्यान दिया है। श्रीहर्ष की दमयन्ती कवि-परम्परा नवयौवना परमसुन्दरी, लज्जाशीला, परन्तु स्थिरचित्ता मुग्धा नायिका है। अन्य काव्यों

की नायिकाओं से उसमें कोई विशेषता नहीं है। दमयन्ती का भाई दम युवावस्थोचित विनोदी स्वभाव का है। श्रीहर्ष नल का चरित्र-चित्रण करने में अति सफल रहा है। नैषध का नल महाभारत के नल की अपेक्षा अधिक उदार, धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण है। कवि को नल-कथा के प्रति स्वयं बड़ी श्रद्धा है। उसने प्रथम सर्ग में नल का सब विद्याओं एवं कलाओं में निपुण, पराक्रमी, गुणशाली तथा आदर्श राजा के रूप में वर्णन किया है। हंस के प्रति किये गये व्यवहार से नल की उदारता और दयालुता का पता चलता है। हस के परिवार की दयनीय दशा को सुनकर राजा नल के नेत्र अश्रुपरिपूर्ण हो जाते हैं और वह हंस को यह कहकर छोड़ देता है कि तेरे जिस रूप को देखने के लिये पकड़ा था, तेरा वह रूप देख लिया है; अब तू इच्छानुसार कहीं भी जा सकता है—

रूपमदर्शि धृतोसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥१·१४३॥

सर्ग ६—९ में नल की सत्यपरायणता और धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है। छठे सर्ग में जब इन्द्र आदि देवता नल को अपना दूत वनाकर उनमें से किसी एक को पति रूप में वरण करने के लिये दमयन्ती के पास भेजते हैं, वह नल की कठोर परीक्षा का समय है, संघर्ष का बहुत ही सूक्ष्म एवं यथार्थ चित्रण किया है। एक ओर नल स्वयं दमयन्ती के प्रेम-विरह में सन्तप्त है और वह यह भी जानता है कि दमयन्ती भी उस पर उसी तरह अनुरक्त है, दूसरी ओर उसे अपनी प्रेयसी की देवताओं में से किसी एक का वरण करने के लिये तैयार करना है। कठिन परीक्षा का अवसर है। अन्त में प्रेम पर कर्त्तव्य की विजय होती है। नल इन्द्र के प्रभाव से अदृश्य रूप से दमयन्ती के भवन में प्रवेश करता है और अपने को बिल्कुल प्रच्छन्न रखकर, कभी देवों के ऐश्वर्य का लोभ देकर और कभी देवों के क्रोध का भय प्रदर्शित करके दमयन्ती से किसी एक देव का वरण करने की प्रार्थना करता है; लेकिन दमयन्ती तनिक भी विचलित नहीं होती है और नल के प्रति अपने अनुराग को प्रकट करती है। वह दमयन्ती के बार-बार आग्रह करने पर भी अपना नाम प्रकट नहीं करता है और बार-बार किसी एक देव का वरण करने का आग्रह करता

है। अन्त में जब नल दमयन्ती को यह भय प्रदर्शित करता है कि यदि यह देवों का निरादर करके नल का ही वरण करेगी तो देव शाप दे देंगे और वह नल को प्राप्त न कर सकेगी। तब दमयन्ती नल के विरह से आतुर हो उठती है और नल को सम्बोधन कर-करके विविध विलाप करने लगती है। दमयन्ती की ऐसी आतुरता देखकर नल अपनी सुध भूल जाता है और उन्माद में अनजाने ही अपने को प्रकट कर देता है। लेकिन जब नल को चेतना होती है तो उसे बड़ा पश्चाताप होता है कि उसने उन्माद में दमयन्ती को अपना परिचय दे दिया। वह इस बात से अतिलज्जित होता है कि वह देवताओं के कार्य में सफल नहीं हो सका। इस स्थल पर नल की उदारता, कर्त्तव्यपरायणता और सत्यता का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। अन्त में जब स्वर्ण-हंस नल को यह सान्त्वना देता है कि देवता इसमें बुरा नहीं मानेंगे, क्योंकि तुमने यथाशक्ति दमयन्ती को देवोन्मुख करने का प्रयास किया है तो नल किसी प्रकार देव-कार्य में हुई असफलता से उत्पन्न ग्लानि त्याग देता है।

गुण-दोष ऊपर श्रीहर्ष के काव्य की विभिन्न दृष्टिकोणों से समीक्षा करते हुए उसके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। उपसंहार के रूप में उनका पुनः सिंहावलोकन किया जाता है। श्रीहर्ष में वस्तु वर्णन की विलक्षण शक्ति है। उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उसकी कल्पना शक्ति अद्भुत है। उसे मानवीय अन्तःकरण का यथार्थ ज्ञान है और वह उसके तत्त्वों के काव्यमय उद्घाटन में अतिसफल रहा है। उसका भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार है। उसका पद-विन्यास ललित एवं मुग्धकारी होता है। उसकी भाषा और शैली रस भाव तथा स्थिति के अनुरूप होती है। हंस-दमयन्ती संवाद में उसने दमयन्ती के मुख से नल के प्रति प्रेमभाव का प्रकाशन श्लेषमयी भाषा में कन्या-भावोचित शालीनता से कराया है। उसके सारे काव्य में शब्दार्थालङ्कारों की भव्य विभूति फैली हुई है।

लेकिन उसके गुण ही उसके काव्य में दोषों के कारण बने हैं। उसने अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति द्वारा एक-एक स्थिति का सूक्ष्म उपमाओं और

चमत्कृतकारिणी उत्प्रेक्षाओं के सहारे इतना विस्तृत वर्णन किया है कि कथा में प्रवाह नाममात्र को भी नहीं है। कहीं-कहीं पुनरुक्तिदोष भी आ गया है। प्रथम सर्ग के पहले और दूसरे श्लोक में एक ही भाव दोहराया गया है। इसी प्रकार द्वितीय, सप्तम तथा दशम सर्ग में तीन बार दमयन्ती का वर्णन किया गया है, लेकिन विशेषता यह है कि कहीं भी पदों अथवा वाक्यांशों की पुनरावृत्ति नहीं हुई है। नैषध-काव्य का एक अन्य दोष यह है कि उसमें जीवन का केवल एकाङ्गी दर्शन होता है। इतना विशाल काव्य होते हुए भी उसमें महाभारत के पूर्ण नलोपाख्यान का समावेश नहीं हुआ है और नल तथा दमयन्ती के पुण्य चरित्र का उद्‌घाटन करने वाले मार्मिक भाग को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। कवि को श्लेष से विशेष अनुराग है जिसके कारण उसकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट और भाव दुरूह हो गये हैं। उपमान आदि के रूप में शास्त्रीय विषयों के उपयोग ने यह कठिनता और अधिक बढ़ा दी है। उसका शृङ्गार और हास्य अश्लीलता तक पहुंच गया है।



नैषध-महाकाव्य



प्रथम सर्ग

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां
तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्त्तिमण्डलः
स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥१॥

अन्वय—यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधामपि तथा न आद्रियन्ते, सितच्छत्रितकीर्त्तिमण्डलः महोज्ज्वलः स नलः महसां राशिः आसीत् ।

अनुवाद—जिस पृथ्वी के पालक की कथा का स्वाद लेकर देवता अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते हैं, जिसने कीर्ति के मण्डल को धवल छत्र बनाया, उत्सवों से दीप्यमान वह नल तेजों की राशि था ।

मल्लिनाथ—(अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदिति' तन्निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्येतिवृत्तरूपं

मङ्गलं वस्तुनिर्दिशति—निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्ष्मापालस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानं निपीय नितरामास्वाद्य, (पीङ् स्वादे क्त्वो ल्यबादेशः न तु पिबतेः, न ल्यपीति प्रतिषेधादीत्त्वासम्भवात्), बुधाः तज्ज्ञाः सुराश्च, ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधा इति क्षीरस्वामी), सुधामपि तथा, यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतम्, सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः), कीर्तिमण्डलं येन सः महसां तेजसां राशिः, रविरिवेति भावः, महैः उत्सवैः उज्ज्वलः दीप्यमानः, नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः, (मह उद्धव उत्सव इत्यमरः), स नलः आसीत् । (अत्र नले महसां राशिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपकं कथायाश्च सुधापेक्षया उत्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः । तदुक्त दर्पणे—'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति, 'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते' इति च । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्, 'जतौ वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति तल्लक्षणात्) ।

टिप्पणी—निपीय—√पीङ् दिवादि० + ल्यप्, यह रूप भ्वादिगण की √ पा (पिबति) का नहीं हो सकता है क्योंकि 'न ल्यपि' इस सूत्र के अनुसार 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' सूत्र से ल्यप् प्रत्यय परे होने पर ईकार नहीं होता है । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः —'सितच्छत्र' संज्ञाशब्द से 'उसे करता है या कहता है' इस अर्थ में तिङ् प्रत्यय जोड़ने से 'सितच्छत्रयते' नामधातु बनती है, उससे क्त प्रत्यय जोड़ने पर सितच्छत्रित शब्द बना है, सितच्छत्रितं सितच्छत्रं कृतं कीर्तिमण्डलं येन स सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः । इस श्लोक में नल की कथा को अमृत से अधिक स्वादिष्ट कहा है इसलिए व्यतिरेक अलङ्कार हुआ, राजा नल में तेजोराशि होने का आरोप किया गया है, इसलिए रूपक अलङ्कार हुआ । दोनों अलङ्कारों के एकत्र होने से संसृष्टि अलङ्कार भी हुआ । इस सर्ग में वंशस्थवृत्त का उपयोग किया गया है जिसका लक्षण 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' है, अर्थात् वंशस्थवृत्त में जगण, तगण, जगण

और रगण के क्रम से १२ अक्षर होते हैं ॥१॥

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी
नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः ।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-
ज्वलत्प्रतापावलिकीर्त्तिमण्डलः ॥२॥

अन्वय—यस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी (अस्ति), भूजानिः सुवर्णदण्डै-कसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्त्तिमण्डलः सः नलः गुणाद्भुतः अभूत् ।

अनुवाद—जिसकी कथा रसों में अमृत को तिरस्कृत करने वाली है, ॰ी जिसकी पत्नी थी, जिसने दीप्यमान तेज की पङ्क्ति और कीर्तिमण्डल ॰किय क्रमशः) सुवर्ण-दण्ड और अद्वितीय धवल छत्र बनाया, वह नल गुणों से अक्षात था ।

रसक्ष

जल सै ॰ल्लिनाथ—इममेवार्थमन्यथा आह—रसैरिति । यस्य नलस्य कथा मलों ॰ादैः, (रसो गन्धः रसः स्वाद इति विश्वः) सुधाम् अवधीरयति तिरस्क-की ॰थोक्ता, अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, (ताच्छील्ये णिनिः) । भूर्जाया क॰ स भूजानिः, भूपतिरित्यर्थः, (जायाया निङिति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य ॰नङादेशः), स नल गुणैः शौर्य्यदाक्षिण्यादिभिः अद्भुतः, लोकातिशय-महिमेत्यर्थ, अभूत् । कथम्भूतः ? सुवर्णदण्डश्च एक सितातपत्रञ्च, ते कृते, (द्वन्द्वात् तत्कृताविति ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः), ज्वलत्प्रतापावलिः कीर्तिमण्डलञ्च येन तथाभूतः । (इह कीर्तेः सितातपत्रत्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्टयात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः) ।

टिप्पणी—सुधावधीरिणी—सुधामवधीरयतीति, अर्थात् सुधा को तिरस्कृत करने वाली; सुधा (उपपद)+अव+√धीर्+णिनि । भूजानिः—

भुजाया यस्य सः, बहुव्रीहि समास में 'जाया' शब्द को 'जानि' हो जाता है। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः—सुवर्णदण्डः एकसितातपत्रञ्चेति सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे (द्वन्द्वसमास), 'सुवर्णदण्डैकसितापत्र' शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' सूत्र के अनुसार णिच् प्रत्यय जुड़ने पर 'सुवर्णदण्डैकसितापत्रयति' नामधातु से कर्म में क्त प्रत्यय जोड़ने पर 'सुवर्णदण्डैकसितापत्रित' शब्द बना। ज्वलत्प्रतापावलिश्च कीर्तिमण्डलञ्चेति ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डले येन स सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः, अर्थात् जिसने दीप्यमान प्रतापावलि और कीर्तिमण्डल को सुवर्णदण्ड और अद्वितीय धवल छत्र बनाया है। यहाँ पर राजा नल की प्रतापावलि में सुवर्णदण्ड और कीर्तिमण्डल में धवल छत्र का आरोप किया गया है। राजा नल अद्भुत गुणशाली था, क्योंकि उसकी पत्नी पृथिवी थी, सुवर्णदण्ड प्रतापावलि थी और धवल कीर्तिमण्डल था ॥२॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे
स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा ।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥३॥

अन्वय—अत्र युगे स्मृता तत्कथा जगत् रसक्षालनया इव पवित्रम् आतनुते सा आविलामपि स्वसेविनीमेव मद्गिरं कथं न पवित्रयिष्यति ।

अनुवाद—इस युग (कलियुग) में स्मरण की गई उसकी कथा, मानो जल से धोने के समान जगत् को पवित्र करती है। वह अपना सेवन करने वाली मेरी दूषित वाणी को कैसे न पवित्र करेगी ?

मल्लिनाथ—सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति—पवित्रमिति । अत्र युगे, कलौइति यावत्, तस्य नलस्य कथा स्मृता, स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः, सती जगत् लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, (देहधात्वम्बुपारदा इति रसपर्य्याये विश्वः). पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि, सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्त्तनपरामेवेति भावः, मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति, अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः । (तथा चोक्तम्—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्त्तनं कलिनाशनमिति' । या स्मृतिमात्रेण शोधनी, सा कीर्त्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्, 'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत् । कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति) ।

टिप्पणी—पवित्रमत्रातनुते जगद् युगे स्मृता तत्कथा—यह विश्वास किया जाता है कि नल-दमयन्ती की कथा के स्मरण से कलियुग में पापों का प्रक्षालन हो जाता है । मल्लिनाथ ने इसी आशय का वचन उद्धृत किया है । रसक्षालनयेव—रसेन जलेन क्षालनयेव अर्थात् जल से धोने से मानो । जैसे जल से मल धोकर दूर किये जाते हैं, उसी प्रकार नल की कथा भी मानसिक मलों को दूर करने वाली है । यहाँ नलकथास्मरण में जलप्रक्षालन की उत्प्रेक्षा की गई है । पवित्रयिष्यति—पवित्र + णिच् (नामधातु) । स्वसेविनीमेव—कवि का कहना है कि जब नल-कथा स्मरणमात्र से जगत् को पवित्र कर देती है तब वह काव्यदोषों से युक्त उसकी वाणी को जो कि उस की कथा के वर्णन में प्रवृत्त है, क्यों न पवित्र करेगी अर्थात् अवश्य ही पवित्र करेगी ॥३॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्
दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं
न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥४॥

अन्वय—चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् अयं स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान्, न वेद्मि ।

अनुवाद—चौदह विद्याओं में अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और अध्यापन (इन चार) प्रकार से चार अवस्थायें करते हुए इसने स्वयं 'चतुर्दशता' कैसे कर दी, (मैं) नहीं जानता हूँ ।

मल्लिनाथ—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति । अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु, (अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्म्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दशेत्युक्तासु) अधीतिरध्ययनम्, गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः, बोधः अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानम्, प्रचरणम् अध्यापनम्, शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः (उपाधिर्धर्म्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे इति विश्वः), चतस्रो दशा अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वम्, (त्वतलोर्गुणवचनस्येति पुंवद्भावः । संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचना इति सम्प्रदायः), चतुर्दशसंख्याकत्वं कुतः कस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति । (स्वतःसिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति, चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम् । चतुरवस्थत्वमिति तत्परिहारश्च । तदुक्तम् आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति) ।

टिप्पणी--चतुर्दशसु विद्यासु—चार वेद, शिक्षा व्याकरण, निरुक्त आदि छै वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चौदह विद्यायें कही जाती हैं, । चतुर्दशत्वम्—इस शब्द में 'चतुर्दश' में श्लेष है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं (१) चतस्रश्च दश च चतुर्दश, चतुर्दशानां भावश्चतुर्दशत्वम् अर्थात् चौदह संख्या होना' (२) चतस्रः दशाः यासां तासां भावश्चतुर्दशत्वम् अर्थात् चार दशा होना' । पहले अर्थ के अनुसार

विद्यायें पहले ही चौदह थीं उसने स्वयं कैसे बनाईं—विरोध हुआ। दूसरे अर्थ के अनुसार इस विरोध का परिहार हो जायेगा—विद्या पहले चौदह थीं, उसने अध्ययन, बोध, आचरण और अध्यापन रूप विशेषता द्वारा प्रत्येक विद्या में चार अवस्थायें कर दीं। दूसरा विरोध यह है—चौदह विद्याओं में से प्रत्येक की चार दशा कर देने से विद्याओं की संख्या १४×४=५६ होनी चाहिये थी, चौदह कैसे कीं ? इसका परिहार भी पहले के समान हो जायेगा ।।४।।

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी
त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम् ।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया
नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।।५।।

अन्वय—रसनाग्रनर्तकी अमुष्य विद्या अङ्गगुणेन विस्तरं नीता त्रयीव नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियां जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत ।

अनुवाद—जिह्वा के अग्रभाग पर नाचने वाली इसकी विद्या अङ्गों के गुणन से विस्तार को प्राप्त वेदत्रयी के समान, अट्ठारह द्वीपों की अलग अलग विजय की श्री को (मानो) जीतने की इच्छा से अष्टादशता (अट्ठारह होने) को प्राप्त हुई ।

मल्लि०—अथास्यापरा अपि चतस्रः विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्तकी जिह्वाग्रसञ्चारिणीत्यर्थः, विद्या, पूर्वोक्ता सूदविद्या चेति गम्यते रसनाग्रनर्त्तित्वधर्म्मादिति भावः, त्रयीव त्रिवेदीव इति (वेदास्त्रयस्त्रयीत्यमरः). अङ्गानाम् (शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः । ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैरित्युक्तानाम्) षण्णाम् मधुराम्लकषायलवणकटुतिक्तानाञ्च रसानां षण्णाम् गुणेन आवृत्या वैशिष्ट्ये न च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयव्युत्पत्तिविशेषेणेति यावत्

विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयम्' लक्षणया अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया (व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा), जेतुमिच्छयेवेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत। पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विशिष्टव्युत्पत्त्या आयुर्वेदादीनामनुशीलनसौकर्य्यात् तत्पारदर्शित्वेन, सूदविद्यापक्षे च षण्णां रसनाम् उल्बणानुल्बणसमतारूपत्रैविध्येन, त्रयीपक्षे च एकैकवेदस्य प्रत्येकशः अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्यत्रैशिष्टयेन चाष्टादशत्वसिद्धिः। 'प्रागुक्ताश्चतुर्दश विद्याः। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्याः ह्यष्टादश स्मृताः' इति। अङ्गविद्यागुणनेन त्रय्या अष्टादशत्वमित्युपाध्याय-विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्याने त्वङ्गानि वेदाश्चत्वारः इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्वहानिः। त्रय्यन्तर्भावे तु नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्। उपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः)।

टिप्पणी -- विद्या—पहले श्लोक सं० ४ में चौदह विद्याओं का उल्लेख किया गया है, पूर्वोक्त १४ विद्याओं में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र ये चार विद्यायें जोड़ने से विद्याओं की संख्या अट्ठारह हो जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार १८ विद्याओं के अतिरिक्त यहाँ 'विद्या' शब्द से पाकविद्या का भी संकेत किया गया है क्योंकि नल पाकशास्त्र में अतिनिपुण कहा जाता है। मधुर, अम्ल, कषाय, लवण, कटु और तिक्त इन छः रसों की न्यूनता, अधिकता तथा समता के कारण प्रत्येक रस के तीन भेद होने से पाकविद्या भी १८ प्रकार की होगी। लेकिन यहाँ पाकविद्या का संकेत बहुत उचित और स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है। नैषध के टीकाकार नारायण ने तो इसमें द्यूतविद्या का संकेत भी बतलाया है। त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्—त्रयी से ऋक्, यजुष् तथा सामन् इन तीन वेदों का अभिप्राय होता है, त्रयी में अथर्ववेद छोड़ दिया जाता है। वेद के छः अङ्ग होते हैं जिनसे वेद के ज्ञान में सहायता मिलती है। ये अङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष हैं। प्रत्येक वेद के ये अङ्ग अलग अलग

हैं। इस प्रकार प्रत्येक वेद के छः अङ्ग होने से त्रयी के भी १८ भेद हुए। नल की विद्या १८ प्रकार की थी, त्रयी भी अङ्गों के गुणन से १८ प्रकार की हो जाती है, इसलिये उसकी विद्या अङ्गों के गुणन से १८ संख्या को प्राप्त त्रयी के समान १८ संख्या को प्राप्त हुई। नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् जिगीषया—नवानां द्वयं नवद्वयं नवद्वयानां द्वीपानां पृथग्भूताः या जयश्रियस्तासां नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्, अर्थात् नौ के दो अर्थात् १८ द्वीपों की अलग-अलग जयश्री को जीतने की इच्छा से। जिगीषया=जेतुमिच्छया, (√जि+सन्+अ)। यहां नल की विद्या के १८ होने के कारण ही उत्प्रेक्षा की गई है—राजा नल ने १८ द्वीपों को विजय करके १८ जयश्री प्राप्त की हैं, फिर विद्या जिसका श्री से सदा विरोध रहता है, क्यों पीछे रहती ? वह भी १८ द्वीपों को अलग-अलग जीतने से प्राप्त १८ जयश्रियों को मात देने की इच्छा से पूर्वोक्त भेद से १८ हो गई।५।

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता
दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां
निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥६॥

अन्वय—दिगीशवृन्दांशविभूतिः दिशामीशिता स शास्त्राणि कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकां दृशं बभार।

अनुवाद—दिशाओं के अधिपतियों के वृन्द के अंशों से जन्म वाला, दिशाओं का शासक वह (नल) शास्त्रों के (रूप में) काम (इच्छा, मदन) को बलात् रोकने वाली, अपना त्रिनेत्र (शिव) का अवतार होने का ज्ञान कराने वाली दो से अतिरिक्त (अर्थात् तृतीय) दृष्टि रखता था।

मल्लि०—अथास्य देवांशत्वमाह— दिगीशेति। दिशामीशाः दिगीशाः दिक्पाला इन्द्रादयः, तेषां वृन्दं समूहः, तस्य अंशैः मात्राभिः विभूतिरुद्भवः

यस्य तथाभूतः, (तथा च 'इन्द्रानिलयमार्कणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः' इति, 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति च स्मृतिः), दिशाम् ईशिता ईश्वरः, (दिशामिता च बहुवचननिर्देशात् इन्द्रादीनामेकैकदिगीशत्वम् अस्य तु सर्वदिगीशितृत्वमिति व्यतिरेको व्यज्यते), स नलः शास्त्राणि कामम् इच्छां मदनञ्च प्रसभेन बलात् अवरुणद्धीति तथोक्तां स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवारिणीं कन्दर्पदहनकारिणीञ्चेत्यर्थः, (कामप्रसरावरोधिनीमिति पाठे—कामस्य प्रसरः विस्तारः वृद्धिरिति यावत् तमवरुणद्धिति तथैवार्थः), निजम् आत्मीयं यत् त्रिनेत्रावतरत्वं दिगीशेश्वरांशप्रभवत्वं तस्य बोधिकां ज्ञापिकाम् (अत्र तृजकाभ्यां कर्त्तरीति कृद्योगसमासस्यैव निषेधात् शेषषष्ठीसमासः तत्प्रयोजक इत्यादि सूत्रकारप्रयोगदर्शनादिति बोध्यम्), द्वयाधिकाम् तृतीयऽमित्यर्थः, दृशं नेत्रं बभार दध्रे। एतेन अस्य शास्त्रेणैव कार्य्यदर्शित्वं व्यज्यते। (शास्त्राणि दृशमिति उद्देश्यविधेयरूपकर्म्मद्वयम्। अवतरेत्यत्राप्प्रत्ययान्तेन तरशब्देन सुप्सुपेति समासः न तूपसृष्टात् प्रत्ययोत्पत्तिः। अत्र शास्त्राणि दृशमिति व्यस्तरूपकम्)।

टिप्पणी—दिगीशवृन्दांशविभूतिः—मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में राजा को आठों दिक्पालों के अंशों (मात्रा) से निर्मित कहा गया है (देखो, मनु० अध्याय ७ श्लोक ४–८)। शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकाम् निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्—राजा नल शास्त्रवेत्ता था, दो भौतिक चक्षुओं के अतिरिक्त शास्त्र उसका तृतीय नेत्र था। शास्त्रदृष्टि के कारण वह स्वेच्छाचार को हठात् रोके रखता था। पुराण–कथा के अनुसार शिव ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को बलात् भस्म कर दिया था। राजा नल का तृतीय शास्त्ररूपी नेत्र यह प्रकट करता था कि वह त्रिनेत्र शिव का अवतार है 'अवतार' शब्द में 'तॄ' धातु से 'ऋदोरप्' से अप्प्रत्यय जुड़ने के उपरान्त 'अव' उपसर्ग का 'तर' से समास होता है, 'अव' उपसर्गपूर्वक तॄ धातु से अप् प्रत्य

नहीं है, क्योंकि 'अव' उपसर्ग पूर्वक तॄ धातु से 'अवे तॄस्त्रोर्घञ्' इस सूत्र के अनुसार घञ् प्रत्यय होने पर 'अवतार' शब्द होगा, न कि 'अवतर' ॥६॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते
कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्
दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

अन्वय—अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते के न तपः प्रपेदिरे ? यद् अधर्मोऽपि कृशः एकाङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्वितां दधौ।

अनुवाद—इस (नल) के द्वारा सत्ययुग में धर्म के चार चरणों से स्थिर कर दिये जाने पर कौन तप को प्राप्त न हुए ? क्योंकि अधर्म भी दुर्बल होकर एक चरण की छोटी अंगुली से पृथ्वी को छूता हुआ तपस्विता को धारण करता था।

मल्लि०--अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः, (तपः परं कृतयुगे त्रैतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः), स्थिरीकृते, निश्चलीकृते इति यावत् के जनाः तपः चान्द्रायणादि-रूपं कठिनं व्रतं, का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यत् यतः अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यापिशब्दार्थः, कृशः दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्व कनिष्ठया कनिष्ठया अङ्गुल्ये-त्यर्थः, भुवं स्पृशन्, कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादंशेनेति भावः तपस्वितां तापसत्वं दीनत्वञ्च, (मुनिदीनौ तपस्विनाविति विश्वः), दधौ धारयामास। (अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्, किमुत अन्य इति कैमुत्यन्याया-दर्थान्तिरापत्त्याऽर्थापत्तिरलङ्कारः, अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्येनयोः संसृष्टिः।

टिप्पणी:—ऐसा विश्वास किया जाता है कि सत्ययुग में धर्म के चार चरण थे और कलियुग में अधर्म के चार चरण हो गए। राजा नल का समय सत्ययुग में कहा जाता है। सत्ययुग में अधर्म केवल एक पैर की कनिष्ठिका के सहारे पृथ्वी पर रहता है। बहुत से तपस्वी भी केवल एक पैर के सहारे खड़े होकर तपस्या करते हैं। इसलिये यहाँ यह कहा गया है कि राजा नल के द्वारा धर्म के निश्चल कर देने पर बेचारा अधर्म भी तपस्या करता था, फिर और की तो बात ही क्या ? स्थिरीकृते—स्थिर+च्वि+√कृ+क्त। दधौ—√धा+लिट्। प्रपेदिरे—प्र+√पद्+लिट्; प्राप्त हुए ॥७॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः
स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ
दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥८॥

अन्वय—अस्य यात्रासु स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम बलोद्धतं यद् रजः (आसीत्) तदेव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितं पङ्कीभवद् विधौ अङ्कतां दधाति।

अनुवाद—इसकी विजय यात्राओं में जो धूलि, जिसकी जलते हुए प्रताप-रूपी अग्नि के धुयें के समान मञ्जुलता थी, सेनाओं से उठी, वह ही जाकर अमृतसागर में गिरकर कीचड़ बनती हुई चन्द्रमा में (मानो) कलङ्कता धारण करती है।

मल्लि०—अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानालस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तम् (सप्तम्युपमानेत्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्ययः) यत् रजः धूलिः तदेव गत्वा,

उत्क्षेपवेगादिति भावः,सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम् अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे, तद्वासिनीति भावः, अङ्कतां कलङ्कत्वं दधाति । (अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा, तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः) ।

टिप्पणी—स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम—स्फुरन् ज्वलन् यः प्रतापः तेजः स एव अनलस्तस्य धूमस्येव मञ्जोर्भावो मञ्जिमा स यस्य तत् (बहुव्रीहि), यहाँ प्रताप में अनल का आरोप किया गया है, इसलिये रूपक अलङ्कार है । 'मञ्जिमन्' मञ्जु से 'भाव' में इमनिच् प्रत्यय जुड़कर बना पुंल्लिङ्ग शब्द है । स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम' यह शब्द रजस् का विशेषण है, इसलिये नपुंसकलिङ्ग प्रथमाविभक्ति एकवचन का रूप है । दधाति पङ्कीभवदङ्कताम् विधौ—वह धूलि जो अभियान के समय राजा नल की सेना के प्रयाण में उठी, दूर जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बन गई । कीचड़ बनकर वह चन्द्रमा में लग गई क्योंकि चन्द्रमा की उत्पत्ति क्षीरसागर से हुई है । चन्द्रमा में जो कलङ्क दिखलाई देता है, वह मानो, वही धूलि है । यहाँ धूलि में कलङ्क होने की उत्प्रेक्षा की गई है । पङ्कीभवत्—अपङ्कं पङ्कं भवदिति पङ्कीभवत् अर्थात् जो पङ्क नहीं है वह पङ्क होती हुई; 'पङ्क' शब्द से 'अभूततद्भाव' अर्थ में च्विप्रत्यय होकर 'भू' धातु से नित्य समास, शतृप्रत्यय ॥८॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुग-
प्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता
वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥९॥

अन्वय—सङ्गरे परश्शताः परे स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजश्शिखिनः अङ्गारमिव अयशः वितेनुः ।

नुवाद—युद्ध में सौ से अधिक श ओं ने, चमकते हुए धनुष त ।

निर्घोष वाले उस (राजा नल) रूपी मेघ के बाणों की घनी वर्षा से बुझे हुए अपने प्रतापरूपी अग्नि के अङ्गार के समान, मानो, अपयश फैलाया।

मल्लि०—स्फुरदिति । सङ्गरे युद्धे शतात् परे परःशताः, शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, (पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वा-दुपसर्जनस्य परनिपातः पारस्करादित्वात् सुडागमश्च), परे शत्रवः स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्निस्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते च यस्य यत्र वा तथोक्तः सः नल एव घनः मेघः, तस्य आशुगानां शराणाम्, अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना, या प्रगल्भा महती वृष्टिः, (आशुगौ वायु-विशिखावित्यमरः), तया व्ययितस्य निर्वापितस्य, (विपूर्वादयतेः कर्म्मणि क्तः), निजस्य तेजःशिखिनः प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयशः अपकीर्तिं वितेनु विस्ता-रितवन्तः । पराजिता इति भावः । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्करः) ।

टिप्पणी—स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य—स्फुरन्तौ धनु-श्च निस्वनश्च यस्य स स्फुरद्धनुर्निस्वनः, स्फुरद्धनुर्निस्वनश्चासौ स च स्फुरद्धनुर्निस्वनः स एव घनस्तस्य प्रगल्भया वृष्टया व्ययितस्य । यह पद 'तेज-शिखिनः' का विशेषण है । तेज के पक्ष में इसका अर्थ होगा—चमकता हुआ है धनुष और घोष जिसका ऐसा जो वह (नल), वही है घन, उसके बाणों की महती वर्षा से बुझे हुए; अग्नि के पक्ष में, चमकता हुआ है धनुष (इन्द्र धनुष) और निस्वन (गर्जन) जिसमें ऐसे तथा उसके (नल के) समान मेघ की आशुगा (तीव्र) और महती वृष्टि से बुझे हुए । तेजश्शिखिनः—तेजः एव शिखी तस्य, अर्थात् तेजरूपी अग्नि; तेज में अग्नि का आरोप किया गया है । परश्शताः—शतात्परे परश्शताः (तत्पुरुष समास) । मल्लिनाथ के अनुसार—'पञ्चमी भयेन' इस सूत्र में 'पञ्चमी' यह योगविभाग करके 'पञ्चमी विभक्ति जिसके अन्त में हो, उसका सुबन्त से समास हो जाता है' इस नियम के

अनुसार 'शतात्' का 'परे' से समास, 'राजदन्तादिषु परम्' इस नियम से शत का परनिपात और 'पारस्करादीनि च संज्ञायाम्' इस सूत्र से 'पर और शत' के बीच में सुट् का आगम हुआ। अङ्गारमिवायशः—राजा नल द्वारा की गई बाण वृष्टि ने शत्रुओं का तेज नष्ट कर दिया और शत्रुओं की पराजय का अपयश चारों ओर फैल गया, इसलिये कवि उत्प्रेक्षा करता है कि शत्रु की प्रताप रूपी अग्नि बुझ गई और उसने अपयश के रूप में मानों कोयले छोड़ दिये, क्योंकि अग्नि के बुझ जाने पर ईन्धन कोयला बन जाता है। कवि-सम्प्रदाय में अपयश का वर्ण भी कृष्ण माना गया है ॥९॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्
निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया
रराज नीराजनया स राजघः ॥१०॥

अन्वय—राजघः स अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

अनुवाद—(शत्रु) राजाओं का हनन करने वाला वह (नल) अपने तेजों से, जिन्होंने शत्रुओं के नगरों को अत्यधिक जलाया है और जो अग्नि के समान दीप्तिमान् हैं, दीप्यमान भूमण्डल की परिक्रमा करके जय के निमित्त की गई आरती से शोभित हुआ।

मल्लिनाथ—अनल्पेति। राज्ञः, प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः, शत्रुघाती इत्यर्थः, (राजघ उपसंख्यानमिति निपातः), स नलः अनल्पं दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ताः; अनलवत् उज्ज्वलाः तैः निजप्रतापैः कोषदण्डसमुत्थतेजोभिः, (स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजमित्यमरः), ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य,

क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वादिति भावः, जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः, नीराजनया आरात्रिकया रराज शुशुभे । (दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः। केचित्तु निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया, जयार्थंयेवेत्यर्थः नीराजनया आरात्रिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य रराज। अत्र ज्वलत्प्रतापानलो नानादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादाक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमन् निजप्रतापनीराजनया भूदेवतां नीराजयन्निव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाद्यप्रयोगाद् गम्या' इति व्याचक्षते, तन्न समीचीनं निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिकरण्यासङ्गतेरिति)।

टिप्पणी—अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः—अनल्पमत्यधिकं दग्धानि अरीणां पुराणि यैस्ते, ते च अनलवत् उज्ज्वला दीप्यमानास्तैः, अर्थात् अत्यधिक जलाये हैं शत्रुओं के नगर जिन्होंने और जो अनल के समान उज्ज्वल हैं। प्रदक्षिणीकृत्य—अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं प्रदक्षिणं कृत्वेति प्रदक्षिणीकृत्य, अर्थात् जो दाहिने नहीं है उसे दाहिने करके (अभूततद्भाव अर्थ में च्विप्रत्यय), गुरु देवता आदि पूज्यों को अपने दाईं ओर करके परिक्रमा की जाती है। राजा नल दिग्विजय करने के लिये सब दिशाओं में गया, दिग्विजय करके लौटने के बाद जब राजा नल अपनी राजधानी में आया तो पुरोहितों तथा नागरिकों ने जय के उपलक्ष्य में उसकी नीराजना (आरती) की, उससे वह शोभित हुआ।

कोई इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं—(अन्वय) राजघः अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः जयाय सृष्टया नीराजनया ज्वलद् भुवो वलयं प्रदक्षिणीकृत्य रराज । अर्थात् "शत्रु राजाओं का हनन करने वाला वह (नल) शत्रु के नगरों को अत्यधिक जलाने वाले

और अनलवत् उज्ज्वल अपने प्रतापरूपी, जय के लिये की गई, नीराजना से दीप्यमान भूमण्डल को प्रदक्षिणा करके शोभित हुआ।" इस अर्थ के अनुसार निजप्रताप का नीराजना से तादात्म्य आरोपित किया जाता है। लेकिन मल्लिनाथ ने इस अर्थ से अपनी अरुचि प्रकट की है। वैसे, यह अर्थ भी उपयुक्त प्रतीत होता है। टीकाकार नारायण ने इस श्लोक के अन्य अनेक अर्थ किये हैं ॥१०॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले
निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः
प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥११॥

अन्वय—तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते निवारिताः अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः न तत्यजुः नूनम्।

अनुवाद—उस (नल) के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वीतल के ईतिशून्यता को प्राप्त करा देने पर हटाई गई अतिवृष्टियों ने, जिनका अन्य कोई आश्रय नहीं था, मानो, शत्रु राजाओं की मृगी-तुल्य नयनों वाली (सुन्दरियों) के नेत्रों को नहीं छोड़ा।

मल्लि०—निवारिता इति। तेन नलेन अखिले सम महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्टयादयः यत्र तत् निरीति तस्य भावः तम्, ईतिराहित्यमित्यर्थः, (ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभामूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' इति), गमिते प्रापिते सति निवारिताः, स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः, अतिवृष्टयः नास्ति अनन्यः संश्रयः आश्रयः यासां तथाभूताः सत्यः प्रतीपभूपालानां प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृशः मृगनयनाः कान्ताः तासां दृशः नयनानि न तत्यजुः नूनम्, मन्ये इत्यर्थः। (उत्प्रेक्षावाचकमिदं तदुक्तं

दर्पणे–मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः' इति)। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्यः सततं रुरुदुरिति भावः।

टिप्पणी—निरीतिभावम्—न सन्ति ईतयो यत्र तत्तस्य भावस्तं नरीतिभावम् 'अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी और पड़ोसी राजा' ये छः किसी देश पर प्राकृतिक विपत्ति (ईति) कही जाती हैं। राजा नल ने ये ईतियाँ अपने देश से निकाल दीं, इसलिये अतिवृष्टि अन्यत्र आश्रय न मिलने के कारण शत्रु राजाओं की सुन्दरियों के नेत्रों में चली गई और फिर उनको नहीं छोड़ा। अर्थात् राजा नल ने अपने शत्रु राजाओं का उच्छेद किया, इसलिये उनकी वियोगिनी विधवा स्त्रियाँ दिन-रात रोती थीं। कवि कल्पना करता है कि वे आंसू मानो अतिवृष्टियाँ थीं। गमिते—√गम्+णिच्+क्त। नूनम्—यहाँ 'नूनम्' अव्यय शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक है ॥११॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्
महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे
यशःपटं तद्भटचातुरी तुरी ॥१२॥

अन्वय—महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरी तुरी रणाङ्गणे सितांशुवर्णैः तद्गुणैः दिगङ्गनाङ्गावरणं बहुं यशःपटं वयति स्म।

अनुवाद—महान् खड्ग रूपी करघे (Loom) की सहकारिणी उसके सैनिकों की चातुरी रूपी तुरी (ढरकी, Shuttle) युद्ध रूपी आङ्गन में चन्द्रमा के समान वर्ण वाले उस (नल) के गुणों से दिशारूपी अङ्गनाओं के अङ्गों के ढकने वाला बड़ा यशरूपी पट बुनती थी।

मल्लि०—सितांशुवेति । महान् असिरेव वेमा वायदण्डः (पुंसि वेमा वायदण्ड इत्यमरः), तस्य सहकृत्वरी सहकारिणी, (सहे चेति करोतेः क्वनिप् प्रत्ययः । वनो रचेति ङीप् रश्च) तस्य नलस्य भटानां सैनिकानां, यद्वा स नल एव भटः वीरः तस्य, चातुरी चतुरता, नैपुण्यमिति यावत्, एव तुरी वयन-साधनं वस्तुविशेष इत्यर्थः, (माकु इति प्रसिद्धा), रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितांशुवर्णैः, शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्य्यादिभिः तन्तुभिश्च, दिश एव अङ्गनाः तासाम् अङ्गाभरणम् अङ्गभूषणम्, (अङ्गावरणमिति पाठे अङ्गा-च्छादनम्) बहुं यश एव पटः वसनं तं वयति स्म ततान । (साङ्गरूपकमलङ्कारः)। संग्रामे तथा नैपुण्यमनेन प्रकटितं यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में साङ्गरूपक अलङ्कार है । महासि में वेमा, भट-चातुरी में तुरी, रण में आँगन, शौर्य आदि गुणों में तन्तुओं, दिशाओं में अङ्गना, और यश में पट का आरोप किया गया है । तद्गुणैः—तस्य नलस्य गुणाः शौर्यादिय एव गुणास्तन्तवस्तैः यहाँ श्लेष से 'गुण' का अर्थ (१) शौर्य-र्यादि और (२) तन्तु होगा । सहकृत्वरी—सह+कृ+ क्वनिप्=सहकृत्वा, स्त्रीलिंग में 'वनो र च' इस सूत्र से रेफ का आगम और ङीप् प्रत्यय दिगङ्ग-नाङ्गावरणम्—इसके स्थान में दिङ्गनाङ्गाभरणम् पाठान्तर भी है । इस पाठ में अर्थ होगा दिशाओं रूपी अङ्गनाओं के अङ्गों का आभरण । मल्लिनाथ ने आभरणम्' पाठ मानकर ही टीका की है और पाठान्तर 'आवरणम्' स्वीकार किया है ।।१२।।

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया
विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्
विचारदृक् चारदृगप्यवर्तत ।।१३।।

अन्वय—किं ततो भिया प्रतीपभूपैरिव विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृता उज्झिता ? यत् स ओजसा मित्रजिद् अपि अमित्रजिद् विचारदृग् अपि चारदृग् अवर्तत ।

अनुवाद—क्या उसके भय से शत्रु राजाओं के समान विरोधी धर्मों ने भी भेदकता छोड़ दी ? क्योंकि वह (नल) तेज में मित्रजित् (सूर्य को जीतने वाला) होते हुए भी 'अमित्रजित्' (शत्रुओं को जीतने वाला) और विचार से देखने वाला भी 'चारदृक्' (चरों से देखने वाला) था।

मल्लि०—प्रतीपेति । प्रतीपाः प्रतिकूलाः भूपा राजानः तैः विरुद्धैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनेव हेतुना भेतृता स्वाश्रयभेदकत्वं, परोपजाप इत्यर्थम्, उज्झिता त्यक्ता किम् ? यत् तस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः, (अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः), तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक्, (राजानश्चारचक्षुषः' इति 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इति च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृक् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः), अवर्त्तत आसीत् । अपिविरोधे । सूर्य्यतेजसं चारदृशश्च नलं ज्ञात्वा शत्रवः भयात् परस्परोपजापादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः । (अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः) ॥

टिप्पणी—राजा नल सूर्य के समान तेजस्वी और चरों द्वारा देखने वाला था, इसलिये शत्रुओं ने भय के कारण परस्पर फूट डालनी छोड़ दी थी । कवि कल्पना करता है कि शत्रु राजाओं के समान विरोधी धर्मों ने भी, मानो, नल के भय से अपने आश्रय में भेद करना छोड़ दिया था, क्योंकि उसमें विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्म भी एक साथ रहते थे। वह 'मित्रजित्' होते हुए भी 'अमित्रजित्'

और 'विचारदृक्' होते हुए भी 'चारदृक्' था।

इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण में विरोधाभास अलङ्कार है। विरोध-पक्ष में—वह मित्रजित् अर्थात् सूर्य को जीतने वाला भी 'अमित्रजित्' अर्थात् मित्रजित् नहीं था। 'विचारदृक्' अर्थात् बिना चरों के देखने वाला भी चरों से देखने वाला था। परिहार-पक्ष में—'अमित्रजित्' का अर्थ है—शत्रु को जीतने वाला, और 'विचारदृक्' का अर्थ है—विचार अर्थात् बुद्धि से देखने वाला, इसलिये 'अमित्रजित्' और 'मित्रजित्' तथा 'विचारदृक् और चारदृक्' में कोई विरोध नहीं है ॥१३॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

अन्वय—विधिः यदा यदा तदोजसः तद्यशसः स्थितौ इमौ वृथा इति चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवाद् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति।

अनुवाद—ब्रह्मा जब जब 'उस (नल) के तेज और उसके यश के रहने पर ये दोनों व्यर्थ हैं' यह चित्त में करता है, तब मण्डल के व्याज से सूर्य और चन्द्रमा की कुण्डली बना देता है।

मल्लि०—तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः, प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशः तस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते, विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषः परिधिः (परिवेषस्तु परिधिरूपसूर्यकमण्डले इत्यमरः) एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम्, अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति।

अधिकाक्षरवर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्त्तिप्रतापौ इति तात्पर्य्यम्। (अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरिति। प्राचीनास्तु 'परिवेषमिषेण सूर्य्यचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षा, सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगात्' इत्याहुः)।

टिप्पणी—कभी कभी सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर धुंधले से प्रकाश का घेरा दिखलाई पड़ा करता है, उसे परिवेश या परिधि कहते हैं। राजा नल सूर्य के समान तेजस्वी है और उसका यश चन्द्रमा के समान शुभ्र है, इसलिये कवि कल्पना करता है कि जब कभी ब्रह्मा के मन में यह विचार आता है कि नल के तेज और यश के रहते हुए सूर्य और चन्द्रमा व्यर्थ हैं तो वह परिवेष के व्याज से उनकी व्यर्थता को प्रकट करने के लिये उनके चारों ओर वर्तुलाकार रेखा बना देता है ॥१४॥

> अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं
> लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
> मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः
> प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

अन्वय—अल्पितकल्पपादपः नृपः दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्रो भविता' इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे।

अनुवाद—तुच्छ कर दिया है कल्पवृक्ष को जिसने ऐसे राजा (नल) ने निर्धनता की दरिद्रता (अभाव) करके 'यह दरिद्र होगा' याचक लोगों के मस्तक पर लिखी, ब्रह्मा की इस लिपि को मिथ्या नहीं किया।

मल्लि०—अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति—अयमिति विभज्येति च। अल्पितः अल्पीकृतः, निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भावः, कल्पपादपः कल्पतरुः, वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृपः दारिद्रयस्य अभावस्य; निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्रयम् अपनीयेति भावः, अयं दरिद्रः, अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतीं, दीप्यमानामिति यावत्, वेधस इयं वैधसी तां लिपि मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। (विधातुर्लिपौ सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्रः पापदरिद्रः ज्ञानदरिद्रः इत्यादि प्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्रयमपाचकार इति निष्कर्षः)॥

टिप्पणी—वैधसीम्—वेधस इयं वैधसी (वेधस्+अण्+ङीप्)। अल्पितकल्पपादपः अल्पितः तुच्छीकृतः कल्पपादपः कल्पवृक्षः येन सः, अल्पित=अल्प+णिच् (नामधातु)+क्त। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वृक्ष कहा जाता है। इसके लिये प्रसिद्ध है कि यह याचक की प्रत्येक कामना को पूर्ण कर देता है। लेकिन राजा नल ने अपनी दानशीलता से कल्पवृक्ष को भी जीत लिया। दारिद्रयदरिद्रताम्—दरिद्रस्य भावः दारिद्रयम् तस्य दरिद्रताम् दारिद्रयदरिद्रतां धनाभावस्य अभावमिति। दारिद्रय और दरिद्रता शब्द समानार्थक हैं, लेकिन यहाँ दारिद्रय' शब्द धनाभाव-रूप विशेष अभाव और 'दरिद्रता' शब्द सामान्य अभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा नल ने याचकों को इतना धन दान में दिया कि उनकी धन की दरिद्रता दूर हो गई, अर्थात् उनमें धन की दरिद्रता की दरिद्रता आ गई। इसलिये राजा नल ने याचकों के मस्तक पर लिखी, ब्रह्मा की इस लिपि को असत्य न किया कि 'यह जन दरिद्र होगा' क्योंकि अब उनमें धन के 'अभाव' की जगह 'धन के अभाव का अभाव' आ गया ॥१५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो
न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं
द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्स्थितम् ॥१६॥

अन्वय—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः, सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मरुः (न कृतः), तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरस्स्थितं निजायशोयुगम् अमानि।

अनुवाद—क्योंकि (उसने) मेरु पर्वत टुकड़े करके याचकों को नहीं दिया (और) समुद्र, दान के जल में खर्च करने से, रेगिस्तान नहीं बनाया, इसलिये उसने सिर के दो भागों में बंधे हुए केश सिर पर स्थित अपने दो अपयश समझे ।

मल्लि०—विभज्येति । मेरुः हेमाद्रिः विभज्य विभक्तिकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः न कृतः (अर्थिने देयमिति 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्यया) । सिन्धुः समुद्रः उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृतः इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वयोः फालयोः शिरःपार्श्वयो बद्धाः, रक्षिता इति यावत्, (फलतेर्विशरणार्थे अप्प्रत्ययः), विलासिनां पुंसां सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विफालबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत्, चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः शिरःस्थितम् मस्तकधृतमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्त्तिद्वयम्, पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः, अमानि, 'केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति' इति अमन्यत इत्यर्थः । (अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णत्वेन वर्णनं कविसमयसिद्धम् । तथा च "मालिन्यं व्योम्नि पापे" इत्यादि । उद्देश्यविधेयरूपं कर्म्मद्वयम् । केशेषु कार्ष्ण्यसाम्याद् अयशोरूपणमिति व्यस्तरूपकम्) ॥

टिप्पणी—अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयः कृत इति अर्थिसात्कृतः, कृधातु के योग में 'अर्थिन्' शब्द से सातिप्रत्यय। अमानि—√मन् (देवादि)+कर्मवाच्य लुङ्लकार। निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्स्थितम्—केशों का कृष्ण वर्ण होता है और कवि सम्प्रदाय में अयश का वर्ण भी कृष्ण वर्णित किया जाता है, इसलिये कृष्ण वर्ण के सादृश्य से केशों में अपयश होने का आरोप किया गया है। राजा नल ने अपने केश सिर के दोनों पार्श्वों पर बाँधे हुए थे, वे, मानो याचकों को मेरुपर्वत न दे देने और दान देते समय सङ्कल्प में समुद्र के जल को व्यय करके उसे मरुस्थल न बना देने के कारण उत्पन्न हुए उसके दो अपयश थे ॥१६॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं
मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं
दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥१७॥

अन्वय—दिनेश्वरश्रीः पटीयान् अयं देवः अजस्रम् अभ्यासमुपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदैव समयं नयन् अयं दिने दिने उदयं दधौ।

अनुवाद—दिनेश्वर (सूर्य) की कान्ति के समान कान्ति वाला और समर्थतर यह राजा निरन्तर सामीप्य को प्राप्त कवि और विद्वान् के साथ प्रसन्नता से समय को व्यतीत करता हुआ प्रतिदिन अभ्युदय धारण करता था।

मल्लि०—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्रीः यस्य तथाभूतः पटीयान् समर्थतरः अयं देवो राजा सूर्य्यश्च (देवः सूर्य्ये यमे राज्ञीति विश्वः), अजस्रं सततम् अभ्यासं सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता, सहचारिणा इति यावत्, (उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चेति निपातः), कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण च बुधेन विदुषा, धर्म्म-

शास्त्रादिदर्शिनेति भावः, सौम्येन च समं सह मुदैव आनन्देनैव, न तु दुःखेने-त्येवकारार्थः, समयं नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिदिनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। (अत्र श्लेषालङ्कारः)।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'देवः' 'कविना' 'दिनेश्वरश्रीः' तथा 'अभ्युदयम्' इन शब्दों के श्लेष से दो दो अर्थ हैं। राजा के पक्ष का अर्थ ऊपर दिया गया है। सूर्य के पक्ष में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—दिन में ईश्वर के समान कान्ति वाला, (अन्धकार दूर करने में) समर्थ यह देव (सूर्य) सर्वदा समीप रहने वाले कवि (शुक्र) और बुध नामक ग्रहों के साथ प्रतिदिन उदय (निकलना) को धारण करता है। श्लेषमूलक शब्दसाम्योत्थापित सादृश्य के कारण उपमा अलङ्कार भी होगा। श्लोक का आशय यह है कि जैसे सूर्य शुक्र और बुध ग्रह के साथ प्रतिदिन उदित होता है, इसी प्रकार राजा नल भी सर्वदा कवियों और विद्वानों के साथ रहकर प्रसन्नता से समय व्यतीत करता हुआ दिन-दिन उन्नति को प्राप्त करता था ॥१७॥

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः
शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा
पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥१८॥

अन्वय—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सु दानात् 'इदं पुरा ऊर्ध्वं भवति' इति वेधसा अस्य पदं ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

अनुवाद—कमल और नूतन पल्लव को नीचा करने (सुन्दरता से तिरस्कृत करने) से और सब पृथ्वीपतियों के सिरों पर रखनें से यह आगे ऊँचा होगा' यह समझकर ब्रह्मा ने इसके चरण को क्या ऊर्ध्व-रेखा से अङ्कित किया है ?

मल्लि०—अध इति । कमलप्रवालयोः पद्मपल्लवयोः कर्म्मभूतयोः अधोविधानात् अधःकरणात् न्यक्करणादिति यावत्, तथा अखिलानां सर्वेषां क्षमाभुजां प्रतिकूलवर्तिनां राज्ञा शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् उर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वंस्थितञ्च पुरा भवति, भविष्यतीत्यर्थः, ('यावत् पुरा निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट्) इति इदं, मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम् ? ('ऊर्द्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानिति सामुद्रिकाः) । सौन्दर्य्यसुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥

टिप्पणी—पुरा भवति भविष्यति 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इस सूत्र के अनुसार यावत् और पुरा निपात के योग में भविष्यत्काल में लट् लकार होता है । ऊर्ध्वरेखया—सामुद्रिक-शास्त्र में कहा गया है कि जिसके चरण में ऊर्ध्वरेखा होती है, वह सर्वोत्तम होता है । राजा नल ने कमल और पल्लव को अपने चरण के सौन्दर्य से जीत लिया है और अपने शत्रु राजाओं के ऊँचे उठे सिर पर अपना पैर रक्खा है अर्थात् उन्हें जीत लिया है । इसलिये उसका चरण कमल और पल्लव से उत्कृष्ट तथा राजाओं के सिर पर ऊर्ध्वस्थित है । इसलिये कवि ने कल्पना की है कि कदाचित् ब्रह्मा ने यह समझकर कि आगे भविष्य में नल का चरण ऊर्ध्वस्थित होगा; उसे सर्वोत्कृष्टता की सूचक ऊर्ध्वरेखा से अङ्कित किया है ॥१८॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं
प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं
वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥१९॥

अन्वय—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च अक्षयं कोशं प्रणीतवान् ।

अथ यथा रतीशस्य सखा ऋतुः वनं तथा यौवनम् अस्य वपुः आलिङ्गत्।

अनुवाद—बाल्यावस्था शेष वाले (ही) इस (नल) ने लोकों की विजय और उससे अक्षय कोश किया। इसके बाद, जैसे कामदेव का मित्र ऋतु (वसन्त) वन का, वैसे ही युवावस्था ने इसके शरीर का आलिङ्गन किया।

मल्लि०—अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः। अयं नलः शैशवशेषवान्, ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः, जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः, कोशं धनजातम् अक्षय प्रणीतवान् कृतवान्। अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः, वसन्त इत्यर्थः। वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् संश्लिष्टवत्। (उपमालङ्कारः)।

टिप्पणी—शैशवशेषवान्—शिशोर्भावः शैशवं तस्य शेषः, सोऽस्य अस्ति इति शैशवशेषवान् अर्थात् जिसका बचपन शेष है। जब राजा नल युवा भी न हुआ था तब ही उसने दिग्विजय करके अपने कोश को अक्षय कर दिया था। दिग्विजय करने के उपरान्त ही यौवन ने इसके शरीर का आलिङ्गन किया जैसे कि कामदेव का मित्र वसन्त सारे वन में फैल जाता है। १९॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा
क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां
न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥२०॥

अन्वय—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलवः अपि क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्येऽपि अधिकारितां न गतः।

अनुवाद—उस (नल) के चरण ने कमलों के प्रति घृणा धारण की। नूतन पत्र में उसके कर की कान्ति का लेश भी कहाँ ? शरद् ऋतु का पौर्णमासी का चन्द्रमा उसके मुख की दासता की भी योग्यता को प्राप्त न हुआ।

मल्लि०—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा, (घृणा जुगुप्साकृपयोरिति विश्वः) अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शयः पाणिः, (पञ्चशाखः शयः पाणिरित्यमरः), तस्य छाया तच्छयच्छायम्, (विभाषेत्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्), तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शरत्कालीन इत्यर्थः (सन्धिवेलाद्युतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः), पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः, (पार्वणेति पाठान्तरम्, कालाट्ठञ्, नस्तद्धित इति टिलोपः), स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः, पूर्णचन्द्र, इत्यर्थः, तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये टङ्कृर्येऽपि अधिकारितां योग्यतां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। (अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्भवेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः)।

टिप्पणी—अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा—यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध का कथन करने से अतिशयोक्ति अलङ्कार है क्योंकि यहाँ चरण में कमल के प्रति घृणा होने का कथन किया गया है जो कि चरण में होना असम्भव है। तच्छयच्छायलवः—तस्य शयः हस्तः तस्य छाया तच्छयच्छायम् (तत्पुरुष समास के अन्त में छाया शब्द विकल्प से नपुंसकलिङ्ग हो जाता है) तस्य लवः। यहाँ नल के चरण, कर तथा मुख को क्रमशः कमल, पल्लव तथा चन्द्रमा से, जो कि प्रसिद्ध उपमान हैं, बढ़कर बतलाया गया है, इसलिये व्यतिरेक अलङ्कार भी हुआ ॥२०॥

किमस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिर्
विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता
कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ॥२१॥

अन्वय—किं विधिः अस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः गुणान् न अजीगणत् ? किं च जगत्कृता रोमकूपौघमिषाद् दूषणशून्यबिन्दवः न कृताः ?

अनुवाद—क्या ब्रह्मा ने इसके रोमों के व्याज से कोटि रेखाओं से (इसके) गुणों को नहीं गिना ? और क्या जगत्स्रष्टा ने (इसके) रोमछिद्रों के समूह के छल से दोषशून्यता को प्रकट करने वाली गोल रेखायें नहीं बनाईं ?

मल्लि०—किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः रेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम् ? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः । तथा जगत्कृता स्रष्ट्रा, विधिनेत्यर्थः, रोम्णां कूपा विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिष व्याजः तस्मात् दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्त्तुलरेखा न कृताः किम् ? अपितु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति न कदाचित् दोषा इति भावः । (अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनालेखत्व-दूषणशून्यबिन्दुत्वयोरुत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः) ।

टिप्पणी—अजीगणत्—√गण् (चुरादि)+लुङ्लकार । यहाँ प्रस्तुत रोम और रोमकूप का 'कपट' और 'मिष' शब्द से प्रतिषेध करके क्रमशः अप्रस्तुत गणक रेखा और दोषशून्यता के ज्ञापक बिन्दु की उत्प्रेक्षा की गई है, इसलिए इस श्लोक में सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है । यहाँ कहा गया है कि राजा नल में गुण ही गुण थे, दोष कोई भी न था ॥२१॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने
ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरः श्रिया तत्र च गोपुरस्फुर-
त्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥२२॥

अन्वय—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता उरःश्रिया च तत्र गोपुरस्फुरत्कवाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता गृहीता ध्रुवम् ।

अनुवाद—इसकी भुजाओं ने शत्रु के दुर्गों के तोड़ने में अर्गल (मूसले) की लम्बाई और स्थूलता तथा वक्षस्थल की लक्ष्मी ने वहाँ (दुर्ग तोड़ने में) पुरद्वारों पर विराजित होते हुए किवाड़ों की दुर्जेयता और विशालता, मानो, ले ली ।

मल्लि०—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गभञ्जने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य, (तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना इत्यमरः), दीर्घञ्च पीनञ्च तयोर्भावः दीर्घपीनता, आयतपीवरत्वमित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः उरसः वक्षसः श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु, (पुरद्वारन्तु, गोपुरमित्यमरः); स्फुरतां राजतां कवाटानां दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरः प्रसारीणि च तेषां भावः तत्ता, अप्रघृष्यत्वं तिर्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः, गृहीता ध्रुवम् अवलिम्बता किम् ? ध्रुवमियुत्प्रेक्षाव्यञ्जकं । (तदुक्तं दर्पणे—मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृशः' इति) । दीर्घबाहुः कवाटक्षाश्चायमिति भावः ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में 'ध्रुवम्' शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक है । राजा नल ने जब शत्रुओं के दुर्गों को तोड़ा तो अर्गलों की दीर्घता और पीनता भुजाओं ने और नगर के द्वारों के कपाटों की दूर्जेयता और विशालता वक्षस्थल ने मानों, ले ली । अर्थात् राजा नल दीर्घबाहु और विशालवक्षा था ॥२२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो
निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे
न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२३॥

अन्वय—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा न ।

अनुवाद—अपनी केलि के अंशमात्र स्मित से जीत लिया है चन्द्रमा को जिसने (और) अपने (केवल) अवयव नेत्र से तिरस्कृत कर दी है कमलों की सम्पत्ति जिसने, (ऐसे) उसके मुख का संसार में, जिसमें उन दोनों (चन्द्रमा और कमल) को जीतने वाली दूसरी सुन्दर वस्तु नहीं है, कोई उपमान नहीं था ।

मल्लि०—स्वकेलीति । स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य, स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमयूखस्येति भावः, निजांशः स्वावयवः या दृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशीलम्, ततोऽधिकमिति यावत्, सुन्दरान्तरं नास्ति यत्र तथाविधे चराचरे जगति, (चराचरं स्याज्जगदिति विश्वः), प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः । (अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणगतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं दर्पणे—हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति) ॥

टिप्पणी—संसार में चन्द्र और कमल ही सबसे सुन्दर वस्तु मानी जाती हैं, क्योंकि मुख और नेत्रों के वे ही उपमान काव्य-जगत् में प्रसिद्ध हैं । लेकिन राजा नल का मुख उनसे उत्कृष्ट था, क्योंकि उसके मुख ने चन्द्रमा को केवल अपनी मुस्कान से और कमलों की शोभा को केवल अपनी अवयवभूत

दृष्टि से जीत लिया था। इसलिये संसार में नल के मुख का कोई उपमान नहीं था, क्योंकि उपमान को गुणों में उपमेय से उत्कृष्ट होना चाहिये। लेकिन वहाँ तो कोई बराबर भी नहीं था, उत्कृष्ट की बात तो जाने दीजिये। तद्द्वयी—द्वयोः समूहः द्वयं द्वयी वा, तयोः द्वयी। जित्वर— √जि+क्वरप् ॥२३॥

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं
जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी
तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥२४॥

अन्वय—सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं विधोः श्रियः अपि स्मितेनैव जिताः। परं भव्यं कुतः ? अहो तदाननस्योपमितौ महीयसी दरिद्रता।

अनुवाद—कमल को उसके नेत्र ने ही झिड़क दिया, चन्द्रमा की शोभा को (उसकी) मुस्कान ने ही जीत लिया। अन्य सुन्दर (वस्तु) कहाँ ? आश्चर्य है कि उसके मुख की उपमा के विषय में अतिमहती दरिद्रता (अभाव) है।

मल्लि०—उक्तार्थं भङ्गयन्तरेणाह—सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं तर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः। परम् अन्यत् आस्यामिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः, अत्यन्ताभाव इत्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्य्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्य लिङ्गमलङ्कारः) ॥

टिप्पणी—राजा नल का मुख सर्वथा अनुपम है, यही बात जो पूर्व श्लोक में कही गई थी, दूसरे प्रकार से कही गई है। संसार में नल के मुख के उपमान

का अत्यन्ताभाव है। महीयसी—महत्+ईयसुन् (स्त्री०)। उपमितौ दरिद्रता-उपमा के विषय में दारिद्रय। नारायण टीकाकार ने 'दरिद्रता का सम्बन्ध अध्याहृत 'कविनाम्' से जोड़ा है, अर्थात् कवि नल के मुख की उपमा देने में सर्वथा दरिद्र हो गये हैं, उन्हें कोई उपमा सूझती ही नहीं ॥२४॥

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः
स्वयं चमर्येव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति बालचापलं
पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥२५॥

अन्वय—चमरी स्वयमेव तदुत्तमाङ्गजैः तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलाद् बालचापलं शंसति।

अनुवाद—चमरी (मृग) स्वयं ही उसके (नल के) केशों से समानता की इच्छा करने वाले अपने केश-समूह के अपराध के अभाव के लिये बार बार पूंच हिलाने के व्याज से बालों की चपलता (श्लेष से—बालक की चपलता) बतलाती है।

मल्लि०—स्वबालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः सादृश्यकाङ्क्षिणः स्वबालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय, नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः, (क्वचित्तदभावे नञ्समासो दृश्यते), पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एवं छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति। बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। (अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्यापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरिति) ॥

टिप्पणी—चमरी मृग अपने बालों की सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध है। नल के केश चमरी के केशों से भी सुन्दर हैं। चमरी अपनी पूँछ हिलाहिला कर, मानों कह रही है कि उसके बालों ने नल के केशों से बराबरी की इच्छा करने की जो धृष्टता की है वह उनकी केवल शिशु-सुलभ चपलता है, इसलिये उसे क्षमा किया जाय। बालचापलम्—इसमें बाल' शब्द में श्लेष है; बाल—(१) शिशु या (२) केश ॥२५॥

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया
निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां
नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

अन्वय—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत्

अनुवाद—उस राजा की कामदेव के तुल्य कान्ति और उसके प्रति अपने चित्त की अभिलाषा के कारण उस राजा के विषय में तीनों लोकों की तिरछी भौं वालियों को दो प्रकार से काम का विभ्रम हुआ।

मल्लि०—महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्त्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथविभ्रमः 'अयं मन्मथः' इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। (अत्र श्लेषसङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः)

टिप्पणी—नल कामदेव के समान सुन्दर था और सुन्दरियाँ उसको चाहती थीं, इसलिये उन्हें उसमें कामदेव का भ्रम और उसके प्रति कामावेश होता था, इसलिये सुन्दरियों को उसके विषय में दो प्रकार से मन्मथविभ्रम होता था।

यहाँ श्लेष के द्वारा मन्मथविभ्रम के दो अर्थ हैं—(१) कामदेव की भ्रान्ति, (२) काम (Passion) का विभ्रम (विलास) ।।२६।।

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं
निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते
निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ।।२७।।

अन्वय—त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः, अमूः अधुनाऽपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते ।

अनुवाद—देवाङ्गनाओं ने निमेषरहित दृष्टि से उसे अत्यधिक तृष्णा से देखकर जो (अभ्यास) किया था वे अब भी निमेषशून्य नेत्रों से उस अभ्यास के अतिशय को प्रकट करती हैं ।

मल्लि०—निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा, निर्निमेषयेत्यर्थः, दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय, सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः, यः अभ्यासभरः अर्जितः कृतः, अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरम् अभ्यासातिशयं विवृण्वते प्रकटयन्ति । (तासां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तादृशनिरीक्षणाभ्यासवासनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते) ।।

टिप्पणी—निमेषनिःस्वैः—नास्ति स्वं धनं येषां तैः निस्वैः निमेषस्य निःस्वैर्निमेषनिःस्वैः, निमेषनिर्धनैः । देवताओं के लिये प्रसिद्ध है कि वे कभी पलक नहीं मारते हैं । इसलिये देवाङ्गनाओं के लिये पलक न मारना यद्यपि स्वाभाविक है, लेकिन कवि कल्पना करता है कि मानों देवाङ्गनाओं का सुन्दर और युवा नल को अपलक और तृष्णा भरी दृष्टि से देखने के कारण पलक न मारने का अभ्यास हो गया था और अब नल को न देखती हुई भी अपने निमेषशून्य नेत्रों से उसी अभ्यास को प्रकट कर रही हैं । विवृण्वते—वि+

√वृ+लट् (अन्य पु० बहु व०), प्रकट करती हैं ॥२७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं
दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले
स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

अन्वय—चक्षुःश्रवसां प्रियाः 'अदः नः दृशोर्द्वयम् तदाकर्णि फलाढ्यजीवितम् तदवीक्षि च अफलम्' इति तदा नले आत्मनः हृदा स्तुवन्ति निन्दन्ति स्म ।

अनुवाद—नेत्रों से सुनने वालों की प्रियायें 'यह हमारी आँखों का युगल उस (नल) को सुनने वाला (है, इसलिये) सफल जीवन वाला है, और उसको न देखने वाला (है, इसलिये) फलरहित है' इस प्रकार तब नल के विषय में अपने हृदय से अपनी प्रशंसा तथा निन्दा करती थीं ।

मल्लि०—अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पन्नग्य इत्यर्थः, अदः इदं नोऽस्माकं दृशोश्चक्षुषोर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि, तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः, अतएव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि । (अत्रोभयोस्ताच्छील्येणिनिः) । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि, तददर्शीत्यर्थः, अतएव अफलञ्च । इति हेतोः तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । (अतिशयोक्तिरलङ्कारः) ॥

टिप्पणी—चक्षु श्रवसाम्—चक्षुओं से सुनने वाले (सर्प) । सर्पों के लिये प्रसिद्ध है कि वे आँखों से सुनते हैं, उनके कान नहीं होते, लेकिन यह प्रसिद्धि प्राणिशास्त्र के अनुकूल नहीं है । अवीक्षि—न वीक्षते इति अवीक्षि अर्थात् न देखने वाला न+वि+√ईक्ष्+णिनि । क्योंकि सर्पिणियाँ पाताल में रहती

थीं और नल पृथ्वी पर रहता था, इसलिये वे उसे देख नहीं सकती थीं, केवल उसकी गुण-चर्चा सुन सकती थीं ॥२८॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावना—
बलादमुं तत्र निमीलनेष्वपि ।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने
न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

अन्वय—अजस्रभावनाबलाद् अमुं तत्र निमीलनेष्वपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशोऽपि न अलम्भि ।

अनुवाद—निरन्तर चिन्तन के प्रभाव से (उसे नल को) वहाँ (भावना में) निमेषों के होते हुए भी देखने वाली मनुष्य-स्त्रियों ने उसके दर्शन में निमेष से किये गये विघ्न का लव भी न पाया ।

मल्लि०—विलोकयन्तीभिरिति: । अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र, भावनायामिति भावः, निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तराय-लवोऽपि न अलम्भि न प्राप्तः । ('विभाषा चिण्णमुलोः' इति मुमागमः) । मानव्यः दृष्टिगोचरं दृष्ट्वा अदृष्टिगोचरञ्च तं मनसा सततं पश्यन्ति स्मेति भावः । (अतिशयोक्तिरलङ्कारः) ॥

टिप्पणी—क्योंकि स्त्रियाँ नेत्र बन्द करके भी स्वहृदय स्थित नल को देखती रहती थीं, इसलिये निमेष के कारण उन्हें नल के दर्शन में कोई बाधा नहीं आती थी । अलम्भि √लभ्+लुङ् (कर्मवाच्य) ॥२९॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं
जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।
तदात्मताध्यातधवा रते च का
चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥३०॥

अन्वय—का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श, का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद। का च वा रते तदात्मताध्यातधवा स्वमनोभवोद्भवं न चकार ।

अनुवाद—किस स्त्री ने रात्रि में उसे स्वप्न में नहीं देखा ? और किसने नाम के उच्चारण में त्रुटि करके उसका नाम नहीं लिया ? अथवा किसने सम्भोग में उस (नल) के रूप में पति का चिन्तन करके अपने काम का प्रकाशन नहीं किया ?

मल्लि०—नेति । का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः । का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती ? अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थः । का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्त्ता यया तथाभूता, (धवः प्रियः पतिर्भर्त्तेत्यमरः), स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवः तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः । (अतिशयोक्तिरलङ्कारः) ॥

टिप्पणी—यहाँ काकु से अर्थ होगा—सबने ही किया ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं
करे तमलोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया
न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ॥३१॥

अन्वय—तम् आलोक्य श्रिया अहम् अस्य योग्या इति स्वम् इक्षितुं करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया सुरूपया अपदर्पया श्वासमलीमसः न कृतः ?

अनुवाद—उसे देखकर 'सौन्दर्य में मैं इसके योग्य हूं' इस विचार से अपने को देखने के लिये हाथ में लिया हुआ दर्पण, भीम की पुत्री को छोड़कर, किस सुन्दरी ने दर्पशून्य होकर श्वास से मलिन नहीं किया ?

मल्लि०—श्रियेति । तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा श्रिया सौन्दर्य्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति, धियेति शेषः, स्वम् आत्मानम्: स्वावयवमित्यर्थः, ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीम्, दमयन्तीमित्यर्थः, विहाय, विनेत्यर्थः, कया सुरूपया शोभनरूपवती अहमित्यभिमानवत्या नार्य्या अपदर्पया दर्पशून्यया सत्या श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः, (मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमित्यमरः), न कृतः ? अपि तु सर्वयैव कृत इत्यर्थः । (सौन्दर्य्यगर्विताः सर्वा एव भैमीव्यतिरिक्ताः कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् करधृतदर्पणे आत्मानं निर्वर्ण्य नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णाः कदुष्णनिश्वासेन तं दर्पणं मलिनयन्ति स्मेति निष्कर्षः)॥

टिप्पणी—सुन्दरियाँ जब नल को देखतीं तो अभिमान से नल के सौन्दर्य से अपने रूप का सादृश्य देखने के लिये दर्पण में अपना रूप देखतीं । लेकिन जब वह अपने रूप को नल के योग्य न पातीं तो उनका सारा दर्प नष्ट हो जाता था और दुःखावेश से गहरा श्वास छोड़ती थीं जिससे दर्पण भी मलिन हो जाता था । केवल दमयन्ती ही ऐसी थी जो अपने को नल के योग्य पाती थी। विहाय—वि + √हा + ल्यप्, छोड़कर । अपदर्पया—अपगतः दर्पः यस्याः तया (विधेयात्मक विशेषण) ॥३१॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना
प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो-
नलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥३२॥

अन्वय—यथा खलु भोगभोजिना वयसा उह्यमानः मदनः वैरोचनिजस्य अनलावरुद्धं पत्तनं प्रसह्य वेशितः तथा (भोगभोजिना वयसैव ऊह्यमानः मदनः) विदर्भजायाः (नलावरुद्धम्) मनः (प्रसह्य वेशितः)।

अनुवाद—जैसे कि सर्प के शरीर को खाने वाले पक्षी (गरुड़) से ले जाया हुआ प्रद्युम्न बाणासुर के अग्नि से घिरे हुए नगर (शोणितपुर) में बलपूर्वक प्रविष्ट कराया गया था, वैसे ही विषयों का भोग कराने वाली अवस्था (यौवन) से (दूसरों से) जाना जाता हुआ काम विदर्भ की पुत्री के नल में आसक्त मन में सहसा प्रविष्ट कराया गया।

मल्लि०—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय स्त्रीमात्रस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत्, भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा, गरुडेनेत्यर्थः, उह्यमानः नीयमानः (वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्), अनलावरुद्धम् अग्निपरिवेष्टितं विरोचनस्य अपत्यं पुमान् वैरोचनिः बलिः तज्जस्य तत्पुत्रस्य, बाणासुरस्येत्यर्थः, पत्तनं नगरं, शोणितपुरमिति यावत्, प्रसह्य सहसा यथा वेशितः खलु प्रवेशित एव, ('ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागतं हरिः' उषाहरणे विष्णुपुराणात्), तथा नलावरुद्धं नलासक्तं विदर्भजायाः दमयन्त्या मनः भोगभोजिना, सुखभोगासक्तेनेत्यर्थः, वयसा यौवनेन ऊह्यमानः परैस्तर्क्यमाणः (ऊहेर्वितर्कार्थात् कर्मणि यक्), वेशितः प्रवेशितः। (भोगः सुखे स्त्र्यादिभृता-वहेश्च फणकाययोरित्यमरः)।

पुरा उषा नाम बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्धं दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरीं चित्रलेखामवदत्। सा च योगिनी योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकायां प्रसुप्तमनिरुद्धं विहायसा समानीय तया समगमयत्। कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्णः प्रद्युम्नबलरामाभ्यां बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणानगरमरोत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया)।

(अथ यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः, तदनुप्राणिता उपमा च, सा च वयसेति वयसोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषां सङ्करः)।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि जैसे प्रद्युम्न गरुड़ की सहायता से बाणासुर के अग्नि से परिवेष्टित नगर शोणितपुर में प्रविष्ट हो गया था, वैसे ही अब काम यौवन की सहायता से दमयन्ती के नल में आसक्त हृदय में प्रविष्ट हुआ। इस सम्बन्ध में पौराणिक कथा है—बाणासुर की बहिन उषा ने स्वप्न में प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध को देखा और जब वह सोकर उठी तो उसने यह बात अपनी सखी चित्रलेखा से कही। चित्रलेखा ने योग-बल से अनिरुद्ध को आकाश मार्ग से लाकर उषा से मिला दिया। जब बाणासुर को इस बात का पता चला तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने अनिरुद्ध को बांधकर डाल दिया। कुछ समय पश्चात् नारद द्वारा कृष्ण को इसका पता लगा। कृष्ण प्रद्युम्न और बलराम के साथ गरुड़ पर आरूढ़ होकर बाणासुर के नगर में, जो कि चारों ओर अग्नि से घिरा हुआ था, प्रविष्ट हुआ। युद्ध में बाणासुर को परास्त करके कृष्ण ने अनिरुद्ध का उद्धार किया (देखिये, विष्णुपुराण उषाहरण)।

इस श्लोक में 'भोगभोजिना' 'मदनः' और 'वयसा' शब्दों में अभङ्ग श्लेष तथा 'यथोह्यमानः' और 'मनोनलावरुद्धम्' पद के क्रमशः 'यथा उह्यमानः' और 'यथा ऊह्यमानः' तथा 'मनः अनलावरुद्धम्' और 'मनः नलावरुद्धम्' दो तरह से पदच्छेद करने से सभङ्गश्लेष द्वारा दो दो अर्थ होंगे। उह्यमानः—√वह्,+शानच् (कर्मवाच्य), (१) ले जाया जाता हुआ या ऊह्यमानः—√ऊह्+शानच्, (२) जाना जाता हुआ। भोगभोजिना—भोगान् भोक्तुं शीलमस्य, भोग—(१) सर्प का शरीर या फण, अथवा (२) विषय सुख। मदनः—(१) कामदेव का अवतार प्रद्युम्न, या (२) काम। वयसा—(१) पक्षी से, या (२) अवस्था से ॥३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां
दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना
मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

अन्वय—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः विशिष्य दिदेश ।

अनुवाद—उस भीम (नाम के) राजा की पुत्री ने अपने सौन्दर्य की सम्पत्ति के योग्य, अनेक बार सुने गये, उस नृप (नल) के प्रति एकमात्र काम की आज्ञा के वशवर्त्ती मन को विशेषकर प्रेरित किया ।

मल्लि०—इह विरहिणां चक्षुःप्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्व्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि । सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती, (नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः), निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे, बहुशः, (बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामित्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः) श्रुतिं श्रवणं गते, एतेन श्रवणानुराग उक्तः तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एकं वशंवदम् एकस्यैव विधेयम्, (शिवभागवतवत् समासः । 'प्रियवशे वदः खच्', 'अरुर्द्विषदित्यादिता तस्य मुम्), मनो विशिष्य दिदेश, अस्येदमिति निश्चित्यातिससर्जेत्यर्थः । तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्तासीदित्यर्थः ॥

टिप्पणी—भीमनरेन्द्रनन्दना भीमश्चासौ नरेन्द्रश्च तस्य नन्दना, नन्दयतीति नन्दना, √नन्द+ल्यु । मनोभवाज्ञैकवशंवदम्—मनसि भवः मनोभवः कामस्तस्य आज्ञया एकं वशंवदम्; वशंवद=वंश (उपपद)+√वद्+खच् प्रत्यय ॥३३॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते
दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं
विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

अन्वय—सा दिने दिने वन्दिनामवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती नलं रज्यते स्म विनिद्ररोमा (च) अजनि ।

अनुवाद—वह प्रतिदिन चारणों के समय पर पिता के समीप आकर उन (चारणों) के अन्य राजाओं के विषय में गुणगान करने पर नल के विषय में सुनती हुई बहुत प्रसन्न होती थी और रोमाञ्चयुक्त हो जाती थी ।

मल्लि०—अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि । सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं, (नित्यवीप्सयोरिति वीप्सायाद्विर्भावः) वन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति भूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः, नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताभूदित्यर्थः । (रजेर्दैवादिकाल्लट्) । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः (जनेः कर्त्तरि लुङ् दीपजनेत्यादिना च्लेश्चिण्णादेशः) । नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ।

टिप्पणी—जब स्तुतिगायक दमयन्ती के पिता के समीप जाते थे तो वह भी वहाँ पहुँच जाती थी, और जब वे अन्य राजाओं का गुणगान करते हुए नल का यशोगान करते थे तो दमयन्ती अतिहर्षित होती थी और हर्ष के कारण उसे रोमाञ्च हो जाता था । अजनि √जन् (दिवादि + लुङ् (अन्य० एक वचन) ॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्
तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया
मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

अन्वय—मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखाद् नलनामनि तृणेऽपि श्रुते अनया तन्व्या द्रुतम् अन्यद् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत ।

अनुवाद—आपस में कथा के प्रसङ्ग से सखी के मुख से नल (नरसल) नाम के तृण के भी सुनने पर यह कृशाङ्गी तुरन्त अन्य (कार्य) छोड़कर हर्ष से उसके सुनने में कान तैयार कर लेती थी ।

मल्लि०—कथेति । मिथोऽन्योन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति, ("नलः पोटगले राज्ञीति" विश्वः), अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्य्यान्तिरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । (भुवो भावे लङ्) । अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदिति रागातिशतोक्तिः ॥

टिप्पणी—यदि कभी सखियाँ बातें करती हुई प्रसङ्गवश 'नल' नाम की घास का नाम भी लेती थीं तो दमयन्ती यह समझकर कि ये राजा नल के विषय में कुछ कह रही हैं, सब काम छोड़कर उनकी बातों की ओर ही अपने कान लगा लेती थी । इससे दमयन्ती का नल के प्रति उत्कट अनुराग व्यक्त होता है । अभूयत—√भू+लङ् (कर्मवाच्य) ॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्
बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे
निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥३६॥

अन्वय—'परासोः अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् तदाहर,' इति सा यूनः स्तुवता जनेन तदास्पदे नैषधं निदर्शनम् अभ्यषेचयत् ।

अनुवाद—'मरे हुए और निमेष-रहित लोचन वाले कामदेव से डरती हूं, (इसलिये) उससे भिन्न किसी का उदाहरण दो', इस प्रकार उसने युवकों की प्रशंसा करने वाले (सखी) जन से उस (कामदेव) की जगह निषधदेश के राजा को उदाहरण रूप में अभिषिक्त कराया ।

मल्लि०—स्मरादिति । परासोर्मृतात् अतएवानिमेषलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते, उभयथापि भयहेतूक्तिः, स्मराद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरेति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह; सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोज्यकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं, (जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्), अभ्यषेचयत् । स्मरस्य स्थाने तत्सदृशं एवाभिषेक्तुं युक्तः, स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुतर्षं शृणोतीति रागातिरेकोक्तिः । (उपसर्गात् सुनोतीत्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम्) ॥

टिप्पणी—दमयन्ती की सखियाँ सुन्दर युवाओं की प्रशंसा करती हुई उनकी कामदेव से उपमा देती थीं, लेकिन दमयन्ती नल में अनुराग रखने के कारण युवकों की चर्चा में नल के विषय में सुनना चाहती थी इसलिये वह अपनी सखियों से कहती—मुझे मरे हुए और निमेषशून्य कामदेव से भय लगता है, इसलिये उपमान के रूप में किसी अन्य क

कथन करो। लेकिन कामदेव के स्थान में उपमान होने योग्य नल के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था, इसलिये उसकी सखियाँ नल को ही उपमान रूप में प्रस्तुत कर देती थीं। इस प्रकार दमयन्ती जो चाहती थी उसे अप्रकट रूप से करा लेती थी। **स्मरात्परासोरनिमेषलोचनात्**—मरे हुए व्यक्ति की पलकें नहीं झपती हैं, इसलिए उसे देखकर कोमल हृदय व्यक्तियों को डर लगा करता है। कामदेव को शिव ने अपने तृतीय नेत्र से जला दिया है, इसलिये मृत होने से उसके नेत्र भी निमेषशून्य हो गये हैं। कामदेव को देवता भी माना जाता है, इसलिये भी उसके नेत्र निमेषहीन माने जा सकते हैं। **अभ्यषेचयत्**—अभि + √सिच् + णिच् + लङ् ॥३५॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान्
मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया
चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

अन्वय—निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः, अथ तत्कीर्त्तिकथां निपीय अनया चिराय विमनायमानया तस्थे।

अनुवाद—(दमयन्ती) निषधदेश से आये हुए दूत, ब्राह्मण, स्तुतिपाठक तथा भाटों से बहाने से नल के गुणों के विषय में पूछती। तब उसके यश की कथा को तृष्णा से सुनकर चिरकाल तक उत्कण्ठित रहती।

मल्लि०—नलस्येति। निषधेभ्य आगता दूता सन्देशहरा द्विजा ब्राह्मणा वन्दिनः स्तावकाः चारणा देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य गुणान् पृष्टाः। (पृच्छतेर्दुहादित्वात् गौणे कर्मणि क्तः)। अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्त्तिकथां नलस्य यशःकथामृतं निपीय, नितरां श्रुत्वेत्यर्थः, चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या (भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च अकृत्सा-

वंधातुकयोर्दीर्घः, ततो लटः शानचादेशः), तदा तस्थे स्थितम्, (तिष्ठतेर्भावे लिट्) । अयञ्च दूतादिव्यवधानेन गुणकीर्त्तनलक्षणः प्रलापाख्यो रत्यनुभावः ।'

टिप्पणी—तस्थे—√स्था+लिट् (कर्मवाच्य) । विमनायमानया—विमना इव आचरतीति विमनायते, विमनस्+क्यङ् (नामधातु)+शानच् । पृष्टाः—√प्रच्छ्+क्त; प्रच्छ्धातु द्विकर्मक है, गौण कर्म 'दूतद्विज०' में प्रथमा और प्रधान कर्म 'गुणान्' में द्वितीया विभक्ति है ॥३७॥

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ
लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं
नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

अन्वय—अधिलीलागृहभित्ति त्रिजगज्जयिश्रियौ कावपि प्रियं प्रियां च लिख इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ।

अनुवाद—'क्रीडागृह की भित्ति पर तीनों लोकों को जीतने वाली शोभा से युक्त किन्हीं दो प्रेमी और प्रेयसी के चित्र बनाओ', इस प्रकार कहकर वह चतुर शिल्पी के द्वारा बनवाये गये नल के और अपने सादृश्य (चित्र) को देखा करती थी।

मल्लि०—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणां विनोदोपायाः । अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागञ्चास्या दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शनं तावदाह—प्रियमिति । सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् (समाहारो द्विगुरेकवचनम्), तस्य जयिनि लोकत्रयजित्वरी श्रीः शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रियं प्रियाञ्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये, (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः), लिखेत्युक्तो कारुतरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यं रूपसाम्यापादनम् ईक्षते स्म ।

टिप्पणी—अधिलीलागृहभित्ति—लीलागृहस्य भित्तौ इति (सप्तमी विभक्ति के अर्थ में अव्ययीभाव समास)। दमयन्ती प्रिय के चित्र के दर्शन द्वारा उत्कण्ठा दूर करने की कामना से शिल्पी से लीलागृह की भित्ति पर संसार में सबसे सुन्दर युवक युवती का चित्र बनाने के लिये कहती है और शिल्पी, नल और दमयन्ती का चित्र बना देता है, क्योंकि वे दोनों ही संसार में सुन्दरतम थे। दमयन्ती उसे देखकर ही मनोरञ्जन कर लेती थी। सख्यम्—सख्युर्भावः सख्यं सादृश्यम्। यहाँ 'सखि' शब्द का लक्षणा से 'सदृश' अर्थ में प्रयोग किया है ॥३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं
निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्
करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥३९॥

अन्वय—मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं स्वपति सा क्व निशि न पश्यति स्म। सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टमपि अर्थं जनदर्शनातिथिं करोति।

अनुवाद—मन के सङ्कल्प से अपना पति बनाये हुए नल को सोती हुई वह किस रात्रि में नहीं देखती थी? (क्योंकि) निद्रा अदृष्ट के बल से न देखी गई वस्तु को भी लोगों की दृष्टि का अतिथि बना देती है।

मल्लिनाथ—मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृतं स्वभर्तृकृतं नलम्, (अभूततद्भावे च्वौ दीर्घः), स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्तिः स्वप्नः अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थम्, किमुत दृष्टमिति भावः, अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति। तदत्रापि निमित्ताददृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। (सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः)।

टिप्पणी—स्वपतीकृतम्—जो पति नहीं था उसे पति बनाया ('पति'

शब्द से अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय)। दमयन्ति ने यद्यपि नल कभी देखा नहीं था लेकिन फिर भी स्वप्न में वह उसे देख लेती थी क्योंकि स्वप्न में न देखी हुई वस्तु भी प्रारब्ध से दीख जाती है ॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया
हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो
रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥४०॥

अन्वय—निद्रया निमीलिताद् अक्षियुगाद् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदोऽपि च संगोप्य कदापि अवीक्षितः महद् रहस्यं स महिपतिः अस्याः अदर्शि ।

अनुवाद—निद्रा ने बन्द आंखों के युग्म से और बहिरिन्द्रियों के मौन के कारण बन्द किये गये हृदय से भी छिपाकर, कभी न देखा गया महान् गोपनीय वह राजा इसे दिखाया ।

मल्लिनाथ—निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिकया निमीलितान्मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थं, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्टव्यघात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः, हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, (अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छतीत्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव । तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह कदाप्यवीक्षितः इति) अत्यातादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्यं वस्तु स महीपतिर्नलः अस्या भैम्या अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे । (दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्) । यथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं संगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः ।

टिप्पणी—पहले श्लोक के भाव को ही इस श्लोक में और अधिक स्पष्ट किया गया है । निद्रा (स्वप्न) ने दमयन्ती को राजा नल बन्द नेत्रों और बाह्य इन्द्रियों के सम्पर्क से रहित मन में छिपकर दिखलाया । जाग्रदवस्था में किसी

वस्तु का चाक्षुष ज्ञान मन का चक्षुरिन्द्रिय से चक्षुरिन्द्रिय का उस वस्तु से सम्बद्ध होने पर होता है, लेकिन स्वप्नावस्था में होने वाला ज्ञान केवल मानस है, उसमें बाह्य इन्द्रियाँ व्यापार-शून्य रहती हैं। इसीलिये यहाँ यह कहा गया है कि निद्रा ने नेत्रों और बाह्य इन्द्रियों के मौन से मुद्रित मन से राजा नल दमयन्ती को दिखलाया। यहाँ 'निमीलितादक्षियुगात्' और बाह्येन्द्रियमौन-मुद्रिताद् हृद:' 'अदर्शि' के विरोध में रक्खा गया है, जब आँखें बन्द है और मन बाह्येन्द्रिय-जन्य ज्ञान से शून्य है तो दिखा कैसे दिया ? नारायण पण्डित ने इस श्लोक में सुषुप्ति अवस्था का वर्णन समझा है जो कि कल्पना-क्लिष्ट है। उसकी अन्य व्याख्यायें तो बहुत ही क्लिष्ट-कल्पना-साध्य एवम् अप्रासङ्गिक हैं। अदर्शि—√दृश् + णिच् + लुङ् (कर्मवाच्य), इसलिये कर्म 'महीपतिः' प्रथमा; प्रयोज्यकर्ता 'अस्याः' कारक की अविवक्षा में षष्ठी और प्रयोजककर्ता 'निद्रया' में तृतीया। अक्षियुगात्, हृदः—अन्तर्धान में पञ्चमी ॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽ-
प्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा
विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥४१॥

अन्वय—अहो अहोभिः हिमागमेऽपि स्मरार्दितां तां प्रति महिमा अति-प्रपेदे, विभावरीभिः तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भराः बिभराम्बभूविरे।

अनुवाद—आश्चर्य है कि दिनों ने शीतऋतु में भी कामपीड़ित उस (दमयन्ती) के प्रति अति दीर्घता पाई। रात्रियों ने ग्रीष्म ऋतु की समाप्ति पर भी चर्बी की राशियाँ (दीर्घता) धारण कीं।

मल्लि०—अथास्याश्चिन्ताजागरावाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं, प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिमा अतिवृद्धिः प्रपेदे; तथा तपर्तुपूर्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिर्निशाभिः मेदसांभरा मांसराशयोऽतिवृद्धिरिति यावत्, बिभराम्बभूविरे बभ्रिरे, (भृञः कर्मणि

आम्प्रत्ययः) अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः, विरहिणां
तथा प्रतीयत इत्यविरोधः। एतेनास्या निरन्तरचिन्ता जागरश्च गम्यते। (अहो-
शब्दस्य ओदिति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः)।

टिप्पणी—शीत-ऋतु में दिन तथा ग्रीष्म ऋतु में रात्रि छोटी होती है।
लेकिन विरह में अल्प समय भी अधिक प्रतीत होने लगता है। इसलिये नल
का विरह अनुभव करने वाली दमयन्ती को शीत-ऋतु के दिन तथा ग्रीष्म-ऋतु
की रात्रियाँ भी लम्बी प्रतीत होती थीं बिभराम्बभूविरे—√भृ + लिट्
(कर्मवाच्य)। मेदसांभराः—चर्वी की राशियाँ, लाक्षणिक अर्थ—पीनता ॥४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः
श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनम्
नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम् ॥४२॥

अन्वय—नलोऽपि कदाचित् लोकात् स्वकान्तिकीर्त्तिव्रजमौक्तिकस्रजः, अन्त-
र्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनम् अस्याः गुणोत्करम् अशृणोत्।

अनुवाद—नल ने भी कभी लोगों से अपनी कान्ति की कीर्तिपुञ्ज रूपी
मुक्ताहार को अन्दर से गूँथने वाले सूत्र की शोभा को धारण करते हुए,
युवकों के धैर्य को लुप्त करने वाले, इसके गुण-समूह के विषय में सुना।

मल्लि०—स्वेत्यादि। अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्य्येण याः कीर्त्तयः
तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुण-
श्रियं गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तं भजन्तं युवधैर्यलोपिनं तरुणचित्तस्थैर्य्यपरिहारिणम्
अस्या दमयन्त्या गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकादागन्तुकजनात् अशृणोत्। (अत्र
कीर्त्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः) ॥

टिप्पणी—स्वकान्तिकीर्त्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं
गुणोत्करम्—स्वस्य नलस्य कान्त्याः कीर्त्तिव्रज एव मौक्तिकस्रक् तस्या अन्त-

घंटनार्थ: यः गुणः सूत्रं तस्य श्रियं शोभां श्रयन्तं दमयन्त्याः गुणोत्करम्, नल के सौन्दर्य की कीर्ति-राशि रूप मुक्ताहार को अन्तर्भाग में जोड़ने वाले सूत्र की शोभा को धारण करने वाले (दमयन्ती) के गुण-समूह को। यहाँ 'कान्तिव्रज' और 'गुणोत्कर' में क्रमशः 'मौक्तिकस्रज्' और 'घटनागुण' का आरोप किया गया है। यहाँ यदि 'स्वकान्ति' का अभिप्राय 'दमयन्ती की कान्ति' लिया जाय तो श्लोक का तात्पर्य यह होगा कि दमयन्ती के औदार्य आदि गुण उसकी कान्तिकीर्तिव्रज-मौक्तिकमाला को नल के अन्तःकरण में संश्लिष्ट करने वाले थे ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरः
शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया
तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥४३॥

अन्वय—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तमेव अवसरं लब्ध्वा मूर्त्तया-निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुमियेष ।

अनुवाद—तदनन्तर कामदेव ने, जिसे नल के शरीर की शोभा की जय से ईर्ष्या उत्पन्न हो गई थी, उस अवसर को प्राप्त करके मानो, शरीर धारणी अपनी अमोघशक्ति उस (दमयन्ती) से निषध देश के राजा (नल) को जीतने की इच्छा की ।

मल्लि०—अथास्य तस्यां रागोदयं वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्त्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव, अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा, तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म । रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः । तेन रागोदय उक्तः ।

टिप्पणी—शरीरशोभाजयजातमत्सरः—शरीरस्य शोभाया जयेन जातः मत्सरः यस्य सः, (नल) के शरीर की शोभा (कर्ता) की जय के कारण उत्पन्न

हुआ है मत्सर जिसको। अभिप्राय यह है कि नल के शरीर की शोभा की जय हुई इससे कामदेव को नल से ईर्ष्या हो गई। कामदेव ने उचित अवसर पाकर नल को जीतने के लिए, मानो, दमयन्ती के रूप में अपनी अमोघ शक्ति का प्रयोग करना चाहा। इयेष—√इष्+लिट् ॥४३॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः
क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रियः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा
स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥४४॥

अन्वय—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रियः गुणः श्रवणातिथिः अकारि। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः (गुणः श्रवणातिथिः अकारि)।

अनुवाद—उस पृथ्वी-पालक ने भीम नृप की पुत्री की शोभा के गुण को श्रोत्र का अतिथि बनाया और कामदेव ने, जिसने उस (नल) के महान् धैर्य के नाश के लिए बाण का सन्धान किया, अपने धनुष पर स्थित गुण (पतञ्चिका) को कान का अतिथि बनाया।

मल्लि०—अकारीति। तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजायाः दमयन्त्याः श्रियः गुणः तदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः, श्रुत इत्यर्थः। (करोतेः कर्मणि लुङ्)। स तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उन्नतधैर्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः। दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः। (अत्रोक्तवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः)॥

टिप्पणी—अकारि श्रवणातिथिः—यह आलङ्कारिक प्रयोग है, श्रवणातिथि करने का अभिप्राय सुनना या पहुँचना है। गुणः—शौर्य आदि गुण या डोरी। यहाँ गुण शब्द में श्लेष है। जैसे ही राजा नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य-गुण के विषय में सुना वैसे ही वह दमयन्ती के प्रति अनुरक्त हो गया। इसी को दूसरे

शब्दों में कहा गया है कि नल ने दमयन्ती के सौन्दर्य-गुण को श्रवण का अतिथि बनाया और कामदेव ने नल का धैर्य च्युत करने के लिये बाण सन्धान करके अपने धनुष की डोरी कान तक खींची। संस्कृत-साहित्य में कामदेव की रति के प्रति रूप में कल्पना की गई है। वह अनङ्ग है, क्योंकि शिव ने अपने तृतीय नेत्र से उसे भस्म कर दिया था उसका धनुष पुष्पनिर्मित है, भृङ्गावलि उसके धनुष् की पतञ्चिका है और अरविन्द, अशोक, आम्र नवमल्लिका तथा नीलोत्पल उसके पाँच बाण हैं ॥४४॥

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी
तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन्।
निमज्जयामास यशांसि संशये
स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ॥४५॥

अन्वय—तदा खलु अमुष्य धीरस्य जयाय ज्यां विशिखैः सनाथयन् साहसी स्मरः त्रिलोकीविजयार्जितानि यशांसि अपि संशये निमज्जयामास।

अनुवाद—तब इस वीर (नल) को जीतने के लिये (धनुष की) डोरी को बाणों से युक्त करते हुए साहसी कामदेव ने तीनों लोकों की जय से उपार्जित यशों को भी संशय में डाल दिया।

मल्लि०—अमुष्येति। स स्मरः साहसी साहसकरः, ("न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यतीति" न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः), अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्यां निजधनुर्मौर्वी विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी, (तद्धितार्थेत्यत्यादिना समासः, अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत इति स्त्रीलिङ्गत्वाद् द्विगोरिति ङीप्), तस्य विजयेनार्जितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास। किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपिशब्दार्थः। वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति संशयितवानित्यर्थः। अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः।

टिप्पणी—जिस प्रकार साहसी व्यक्ति अधिक लाभ की आशा से अपनी पूर्वाजित सम्पत्ति को जोखम में डाल देते हैं, उसी प्रकार कामदेव ने भी नल जैसे धीर व्यक्ति को विजय करने के यश की प्राप्ति की आशा से तीनों लोकों को विजय कर लेने के यश को जोखम में डाल दिया। यदि कामदेव नल को विजय न कर पाता तो उसका तीनों लोकों को जीत लेने का यश नष्ट हो जाता ॥४५॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा
विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणै-
र्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥४६॥

अन्वय—यत् पौष्पैरपि अनङ्गमार्गणैः अस्य तत् तादृग् धैर्यकञ्चुकम् अभेदि, तत् अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तथा व्यलासि ।

अनुवाद—जो पुष्पों के बने भी अङ्गहीन (कामदेव) के बाणों ने इस (नल) को वह वैसा (अभेद्य) धैर्य रूपी कवच छिन्न कर दिया, वह इस (नल) से भीम की पुत्री को मिलाने वाले ब्रह्मा का अमोघ सङ्कल्प होना (ही) इस प्रकार प्रकट हुआ ।

मल्लि०—दैवसहायात् पुष्पेषोरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति। अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरवन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन तत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण, योऽग्रे वक्ष्यत इति भावः, व्यलासि विलसितम्, (लसतेर्भावे लुङ्), यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य, न तु देहवतः, मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नम्, (कर्मणि लुङ्), दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। (तत्र नङ्गपौष्पयोः कञ्चुकं भिन्नमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः) ।

टिप्पणी—घटयिष्यतः √घट् + णिच् + (भविष्यत्काल) शतृ। व्यलासि—वि + √लस् (कर्मवाच्य) लुङ् अन्यपुरुष एकवचन। अभेदि—√भिद् = (कर्मवाच्य) लुङ् अन्यपुरुष एकवचन। श्लोक का अभिप्राय यह है—जो कामदेव के पुष्पों के कोमल बाणों ने भी नल के धैर्य-कवच को नष्ट कर दिया, इससे प्रकट होता है कि ब्रह्मा की ही यह दृढ़ इच्छा थी कि दमयन्ती का नल से संयोग हो, तभी तो कामदेव ने अपने कोमल बाणों जैसे तुच्छ साधन से इतना बड़ा कार्य कर लिया ॥४६॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः
पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः
शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥४७॥

अन्वय—किमन्यत् अहो यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजमाश्रयति, तं स्मरं स नलः, आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुं न शशाक, शङ्के।

अनुवाद—और क्या (कहा जाय)? जिसके अस्त्रों से संतापित ब्रह्मा (भी) अब तक कमल का आश्रय लेता है, उस कामदेव का वह नल अपने शरीर की छाया होने के कारण मानो, अतिक्रमण न कर सका।

मल्लि०—अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि यस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति, तस्य पद्मासनत्वादिति भावः. सर्वनीतेरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। तं पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया, तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते, (छाया त्वनातपे कान्ताविति' वैजयन्ती), लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के। न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। (अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्थापत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः, "एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रियेति" लक्षणात्। तनो-

च्छायेव छायेत्युपमा । छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोपजीव-नेनालङ्घ्यत्वे तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा, सङ्कीर्णा सा च शङ्क इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ।

टिप्पणी—पितामहः वारिजमाश्रयति—पुराण-कथा में ब्रह्मा को, जो सबका पितामह कहलाता है, कमलासन कहा गया है। कामपीड़ित भी शीत-लता के लिये कमलों का सेवन करते कहे जाते हैं। तनुच्छायतया—तनोश्छाया तस्या भावस्तया अर्थात् अपने शरीर की छाया होने के कारण। इस शब्द की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है—तनोः छाया कान्तिरिव छाया यस्य तस्य भावस्तया अर्थात् अपने शरीर की कान्ति के समान कान्ति वाला होने के कारण। क्योंकि कामदेव की कान्ति नल के शरीर की कान्ति के समान थी, इस कारण, मानो, नल उसे अपने शरीर की छाया समझकर उसका उलङ्घन न कर सका, क्योंकि कोई भी अपनी परछाईं को नहीं लांघ सकता है ॥४७॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं
नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा
नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

अन्वय—यत् सा तन्वी त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेश किम् (तत्) वयस्कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितम् ?

अनुवाद—जो उस पतले शरीर वाली ने लज्जा रूपी नदीदुर्ग को भी तैर करके नल के हृदय में प्रवेश कर लिया, क्या (वह) अवस्था (यौवन) से दिये गये नये उपहार वक्षस्थल पर उत्पन्न हुए, (स्तन रूपी) कलश के युगल ने किया ?

मल्लि०—उरोभुवेति । सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नल-सम्बन्धि तदपि प्रतीर्य्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशनम्, (यत्तद्

नित्यसम्बन्धात्) वयस्कृतेन नवोपहारेण नूतननिर्म्माणेन उरोभुवा तज्जन्येन कुम्भयुगेन, कुचयुगाख्यनेति भावः, (इत्यतिशयोक्तिः। न लोकाव्ययेत्यादिना कृद्योगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्त्तरि तृतीया, नपुंसके भाव उपसंख्यानमिति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम्), जृम्भित जृम्भणं किम्? (उत्प्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्करः) दमयन्तीकुचकुम्भविभ्रमश्रवणान्नलस्त्रपां विहाय तस्यामासक्तचितोऽभूदित्यर्थः। तेन मनःसङ्ग उक्तः॥

टिप्पणी—त्रपासरिद्दुर्गम्—इस शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं—(१) '(दमयन्त्या) त्रपा एव सरित् सा एव दुर्गम्' अर्थात् (दमयन्ती की) लज्जारूपी नदी रूप दुर्ग, (२) (नलस्य) त्रपा एव सरित् तया दुगम्' अर्थात् (नल की) लज्जा रूपी नदी के कारण दुर्गम् (नलस्य हृदयम्' का विशेषण), (३) 'त्रपा एव सरित् सा च दुर्गम्' अर्थात् लज्जा रूपी कठिन नदी। श्लोक का अभिप्राय यह है कि जैसे कोई अभिसारिका घड़ों की सहायता से नदी को भी पार करके दुर्गम् संकेतित स्थान पर पहुंच जाये, उसी प्रकार दमयन्ती ने भी स्तन रूपी कुम्भों की सहायता से लज्जा रूपी नदी को पार करके नल के हृदय में प्रवेश किया। जृम्भितम्—√ जृम्भ् (अंगड़ाई लेना + क्त; अंगड़ाई ली; प्रभाव दिखाया, विस्तार किया ॥४८॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजा-
मधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी
निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अन्वय—निजामधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतम्, तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि।

अनुवाद—अपनी अधीरता को लोगों से छिपाते हुए इस (नल) के साथ कामदेव ने जो किया उसे जागरण के दुःख को साक्षात् देखने वाली तथा चन्द्रमा के कारण (शय्यापक्ष में—चन्द्रमा के समान) सुन्दर रात्रि और शय्या जानती थी।

मल्लि०—अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति। निजामधीरतां चपलत्वं जनायापह्नुवानस्यापलपतः; (श्लाघह्नुङ्स्थेत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी), अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतं तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी, (साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामिति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप्) शशाङ्केन कोमला रम्या निशा अबोधि, (दीपजनेत्यादिना कर्त्तरि च्लेश्चिणादेशः), तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः ।।

टिप्पणी—जनाय अपह्नुवानस्य—ह्नु धातु के योग में 'जिसे बोध कराना इष्ट हो' उसके वाचक शब्द में चतुर्थी विभक्ति जुड़ती है। अबोधि—√बुध् (दिवादि)+लुङ् (कर्तृवाच्य) अन्यपु० एकव०। शशाङ्ककोमला—(रात्रिपक्ष में) शशाङ्केन कोमला, (शय्यापक्ष में) शशाङ्क इव कोमला ।।४९।।

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभु-
विदर्भराजं तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं
त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ।।५०।।

अन्वय—भृशं स्मरोपतप्तोऽपि स प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत। मानिनः असून् शर्म च वरं त्यजन्ति, एकम् अयाचितव्रतं तु न त्यजन्ति ।

अनुवाद—काम से अत्यन्त पीड़ित भी उस प्रभु ने विदर्भराज से (उसकी) पुत्री की याचना नहीं की। मानी लोग प्राण और सुख भले ही छोड़ दें, लेकिन एक न मांगने के नियम को नहीं छोड़ते।

मल्लि० - ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यतां भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह स्मरेत्यादि। भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतिं तनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान्। (दुहियाचीत्यादिना याचेर्द्विकर्मकता)। तथाहि मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति, एतत्त्यागोऽपि वरं मनाग् वरमिति, (मनागुत्कर्षे इति

महोपाध्यायवर्द्धमान:) । किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति । मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञाया दुःखमित्यर्थः । (सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः) ॥

टिप्पणी—विदर्भराजं तनयामयाचत—याच् धातु के द्विकर्मक होने से 'विदर्भराजम्' और 'तनयाम्' दो कर्म हैं। अयाचितव्रतम्—अयाचितस्य व्रतम्, याचितम्=याच्ञा (नपुंसके भावे क्तः) ॥५०॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचि-
ज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागता-
विभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

अन्वय—अयं वियोगजां निःश्वासततिं क्वचित् मिथ्याविषादाभिनयात् जुगोप, पाडुतां च विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनात् अपललाप ।

अनुवाद—इसने विरह से उत्पन्न निःश्वास-परम्परा को किसी (अन्य वस्तु) के प्रति मिथ्या दुःख के व्याज से छिपाया, और (शरीर की) पाण्डुता को लेप में कर्पूर के भाग के अधिक होने की कल्पना से छिपाया ।

मल्लि०—मृषेति । अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वासततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिदन्यवन्तरे विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन जुगोप संववार । तथा पाण्डुतां विशदतां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनाद् अधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने, (घनसारश्चन्द्रसञ्ज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमरः), तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिकतोत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म ।

शशाक निह्नोतुमयं न तत्प्रियाम्
अयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्
मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

अन्वय—अयम् यत् अलीकवीक्षितां प्रियां बभाषे: यत् च वणिकैः पञ्चमपूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव मुमूर्च्छ, अये, तत् निह्नोतुं न शशाक।

अनुवाद—यह (नल), जो भ्रान्ति से देखी गई प्रिया (दमयन्ती) से बोला और जो वीणावादकों द्वारा पञ्चम स्वर की मूर्च्छनाओं को आलापने पर समाज में ही मूर्च्छित हो गया, दुःख है उसे छिपाने में समर्थ न हुआ।

मल्लि०—शशाकेति। अयं नलोऽलीकवीक्षितां मिथ्यादृष्टां प्रियां दमयन्तीं समाजे सभायामेव यत् बभाषे बभाण वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः, (शिल्पमिति ठञ्); आलपितासु सूच्चरितासु, व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः, ('रागव्यञ्चक आलाप' इति लक्षणात्), पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु आरोहावरोहणेषु, ('क्रमात् स्वराणां सप्तानाम् आरोहादवरोहणम् मूर्च्छनेत्युच्यते' इति लक्षणात्। पञ्चमग्रहणं तस्य कोकिलालापकोमलत्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम्), मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक। अये इति पाठे विषादे इत्यर्थः। "अये क्रोधे विषादे चेति" विश्वः। एतेन व्रीत्यागोन्मदमूर्च्छावस्थाः सूचिताः।

टिप्पणी—यह श्लोक कुछ स्पष्ट नहीं है, भिन्न भिन्न टीकाकारों ने इसमें अनेक पाठभेद तथा शब्दभङ्ग करके भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं मल्लिनाथ ने 'अये न' के स्थान पर 'अनेन' पाठ माना है, 'अये न' पाठान्तर भी स्वीकार किया है। मल्लिनाथ के अनुसार 'अनेन' पाठ मानें तो भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। इसलिये मूल में 'अये न' पाठ ही रक्खा गया है। अनुवाद में दिया गया अर्थ ही सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ा है। विभिन्न अर्थों के लिये Prof. S. V. Dixit का संस्करण देखिये ॥५२॥

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्
जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे
क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः असंवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि सापत्रपताम् अवाप।

अनुवाद—वह राजा, जितेन्द्रियों में जिसकी स्थिति सर्वप्रथम कही जाती थी, दमन न किये जा सकने योग्य काम-विकार के क्रमशः वहाँ (समाज में) प्रकट हो जाने पर लज्जा को प्राप्त हुआ।

मल्लि०—अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्त्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स महीपतिः नलः तत्र समाजे असंवरे संवरितुमशक्ये, (संवरणं संवर. शमश्चेत्यपि) न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः।

टिप्पणी—शम्बरवैरिविक्रमे—कामदेव ने कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतार लेकर शम्बर नामक असुर को मारकर रति से विवाह किया था। यहाँ इसी पौराणिक-कथा का संकेत है। इसलिये, शम्बरवैरिन्=कामदेव। तत्र स्फुटतामुपेयुषि—वहाँ (समाज में) प्रकट होने पर। मल्लिनाथ ने 'तत्र' का अन्वय असंवरे' के साथ किया है। उसके अनुसार श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—वह राजा वहाँ (समाज में) न छिपाये जा सकने वाले कामदेव के विकार के क्रमशः प्रकट होने पर लज्जित हुआ। प्रो० दीक्षित ने 'तत्र' का अभिप्राय नल लिया है। प्रो० दीक्षित के अनुसार अर्थ इस प्रकार होगा—'अदमनीय कामविकार के नल में प्रकट होने पर वह लज्जित हुआ' उपेयुषि—उप+√इ+क्वसु प्रत्यय+सप्तमी एकवचन ॥५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन्
गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्
सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

अन्वय—अमी विवेकप्रभवा गुणा नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल। अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स स्मरः रत्याम् अनिरुद्धं सृजति एव।

अनुवाद—ये विवेक से उत्पन्न गुण नल को चपलता से रोकने में समर्थ नहीं हुए। यह ऐसा सृष्टि का स्वभाव है कि काम रीति (प्रेम) होने पर (प्राणी को) बेबस करता ही है।

मल्लि०—ननु विवेकिनः कुत एवं चापल्यम् इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादयः, नलमिदं स्त्रीलाभरूपं चापलं रोद्धुम् (दुहियाचीत्यादिना रुन्धेर्द्विकर्मकत्वम्) अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि स्मरः कामः, जनमिति शेषः, जनं रत्यां रागे अनिरुद्धं सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्यां रतिदेव्याम् अनिरुद्धाख्यं कुमार सृजतीति ध्वनिः, इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः। ("रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च "अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चेति" विश्वः)। (अत्र स्मररागदुर्वारतया: सर्वसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः)।

टिप्पणी—स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव—यहाँ श्लेष से प्रद्युम्न सम्बन्धी पौराणिक कथा का सङ्केत है। प्रद्युम्न अवतार में मदन ने अपनी पत्नी रति में अनिरुद्ध नामक पुत्र उत्पन्न किया था, ऐसी पौराणिक कथा है ॥२४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो
यदासितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदारामविहारकैतवा-
न्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

अन्वय—यदा स यत्नवानपि अनङ्गचिह्नं विना क्षणं संसदि आसितुं न शशाक, तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष।

अनुवाद—जब वह यत्न करने पर भी कामदेव के चिह्नों के विना क्षण

भर भी सभा में बैठने में समर्थ न हुआ, तब (उसने) उद्यान-भ्रमण के बहाने से एकान्त स्थान का सेवन करना चाहा।

मल्लि०—अथास्य मनोरथसिद्ध्यौपयिकदिव्यहंससंवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—अनङ्गेति। स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक तदा आरामविहारकैतवाद् उपवनविहरणव्याजात् निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः। एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः।

टिप्पणीः—निषेवितुम—नि+√सेव्+तुमुन्, 'नि' उपसर्ग के कारण परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् 'पा० ८, ३, ७०' के अनुसार षत्वविधान। इयेष—√इष्+लिट् लकार ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः
समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता
दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

अन्वय—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः (नलः) स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपवनम् ईक्षिता किल निदेशकारिणः यानाय दिदेश।

अनुवाद—तदन्तर नल ने, जिसने सौन्दर्य से मीनध्वज (कामदेव) को तिरस्कृत कर दिया था, अपने रहस्य को जानने वाले समवयस्क मित्रों के साथ नगर के समीपवर्ती उपवन को देखूँगा (यह कहकर) सेवकों को सवारी लाने की आज्ञा दी।

मल्लि०—अथेति। अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वयसा तुल्या वयस्याः स्निग्धाः, ('स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः), तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपारामभीक्षिता द्रष्टा, (तृन्नन्तमेवैतत् अतएव न लोकेत्यादिना षष्ठी-

प्रतिषेध:) किलेत्यलीके निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय, यानमानेतुमित्यर्थः, (क्रियार्थोपेत्यादिना चतुर्थी), दिदेश आज्ञापयामास ।

टिप्पणी—पुरोपकण्ठोपवनम्—पुरस्य उपकण्ठम् उपवनम्, 'ईक्षिता' क्रिया का कर्म । ईक्षिता—√ईक्ष्+तृन्, (तृच् नहीं) इसलिये 'न लोकाव्ययनिष्ठा-खलर्थतृनाम्' से कृदन्तप्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध हो गया । यानाय—यानमानेतुम्, अप्रयुज्यमान तुमुन्प्रत्यय के कर्म में चतुर्थी विभक्ति ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं
जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः
खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

अन्वय—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन् ।

अनुवाद—तत्पश्चात् वे (सेवक) उसके लिये सुसज्जित, धवल, वेग में भी और परिमाण में भी पुरुष की (गति और परिमाण) से अधिक अश्व को लाये, जिसने अपने निरन्तर चञ्चल खुरभागों से अश्वशाला के मध्यभाग को खोद दिया था ।

मल्लि०—अमी इति । तत् आज्ञापनान्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतं जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणात् चाधिकं, ('ऊर्द्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण्च' इत्यण्प्रत्ययः), अजस्रचञ्चलैश्चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरम्, (वाजिशाला तु मन्दुरेत्यमरः) एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ।

टिप्पणी—पौरुषम्—पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुष+अण् । ऊपर की ओर भुजा उठाकर पुरुष की जो ऊँचाई हो उसे पौरुष अर्थात् पुरुषपरिमाण कहते हैं । नल के लिये लाया गया घोड़ा ऊँचाई में पुरुषपरिमाण से भी अधिक

था। क्षोदितमन्दुरोदरम्—क्षोदितं मन्दुराया उदरमन्तर्भागः येन तम्, अर्थात् जिसने अश्वशाला का मध्यभाग खुरों से खोद दिया था। खुरों से भूमि को खोदने वाला घोड़ा अच्छा समझा जाता है ॥५७॥

अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना
निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्
विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥५८॥

अन्वय—अथ आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना निगालगाद् देवमणेः उत्थितैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (हयम् आरुरोह)।

अनुवाद—इसके पश्चात् (नल) अन्दर के कृकाटिकागामी मार्ग के साथ २ गलभाग में स्थित 'देवमणि' नामक आवर्त से मानो उठे हुए चन्द्रमा की किरणों के तुल्य, गर्दन के केश रूपी किरणों से शोभित (अश्व पर चढ़ा)।

मल्लि०—अथ सप्तभिः कुलकमाह अथेत्यादि। अथानयनानन्तरं स नलः हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः। कथं भूतम्? आन्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाख्यमस्तकपृष्टभाजा, (अवटुर्घाटा कृकाटिकेत्यमरः), अध्वना मार्गेण निगालगाद् गलोद्देशजात्, (निगालस्तु गलोद्देश इत्यमरः), देवमणिः आवर्तविशेषः (निगालजो देवमणिरिति लक्षणात्), दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा, निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा, केसरकेश एव रश्मयः (इति रूपकम्) तैर्विराजितम्।

टिप्पणी—अवटुगामिना—'अवटु' गर्दन के जोड़ अथवा गर्दन के ऊपर के भाग को कहते हैं। नल के घोड़े की गर्दन के निचले भाग में 'देवमणि' नाम की भौंरी थी और गर्दन के ऊपर के भाग में धवल अयाल थे। कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि वह मानो 'देवमणि' से निकलने वाली रश्मियाँ थीं जो गर्दन के ऊपर के भाग पर पहुंचने वाले भीतरी रास्ते से होकर अयाल के रूप में गर्दन के ऊपर फैली हुई थीं। निगालगात्—गले में स्थित। देवमणेः—गले में

स्थित आवर्त्त (भौंरी), साथ ही 'देवमणि' शब्द से विष्णु की कौस्तुभ मणि का भी सङ्केत है, इसलिये 'केसरकेशररश्मिभिः' रूपक बना। हयमारुरोह—आगे सातवें श्लोक में आया है, इसका सातों श्लोकों में अन्वय होगा ॥५८॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतै-
रुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतै-
र्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥५९॥

अन्वय—अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव उपास्यमानं (हयमारुरोह)।

अनुवाद—निरन्तर भूमितल के ताडन से उठी हुई धूलियों से, मानो, वेग के अतिशय को सीखने के लिये आये हुए, अणुपरिमाणयुक्त, लोगों के चित्तों से, चरणों में सेवा किये जाते हुए (अश्व पर चढ़ा)।

मल्लि०—अजस्रेति। अजस्रेण भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैरुत्थितैः रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासायागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा, चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। (अणुपरिमाणं मन इति तार्किकाः)।

टिप्पणी—श्लोक का अभिप्राय यह है—क्योंकि वह घोड़ा निरन्तर खुरों से भूमि को खोद रहा था, इसलिये सूक्ष्म धूलि उठ २ कर उसके पैरों से चिपट रही थी। इसी को लेकर कवि ने अदभुत कल्पना की है कि धूलि क्या, मानो, लोगों के चित्त (जिन्हें न्यायशास्त्र में अणु [कण] परिमाण माना गया है) उस घोड़े से वेगातिशय सीखने के लिये उसके चरणों का सेवन कर रहे हैं, जैसे लोक में शिष्य गुरु से कुछ सीखने के लिये उसके चरणों में बैठता है। भूमी=भूमि। उपास्यमानम्—उप+√आस्+शानच् (कर्म-वाच्य)।

चलाचलप्रोथतया महीभृते
स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं
स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

अन्वय—चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुम् उत्सुकमिव, 'गिरा अलम् अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किल' इति च मौनम् आस्थितम् (हयमारुरोह) ।

अनुवाद—नथुनों के चलने से राजा से अपने वेग के दर्पों को कहने के लिये, मानो, उत्सुक, लेकिन, 'वाणी से बस करना चाहिये, क्योंकि यह स्वयं अश्व के अभिप्राय को जानता ही है' इस कारण मौन धारण किये हुए (अश्व पर चढ़ा) ।

मल्लि०—चलाचलेति । पुनः, चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाणघोणतया (चरिचलिपदीनामुपसंख्यानाच्चलेर्द्विर्वचनं दीर्घश्च ।) 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । महीभृते नलाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान्' वक्तुमुत्सुकमुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—अलमिति । गिरा उक्त्या अलम् कुतः ? अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति किल, (विदो लटो वेति न लादेशः), इति हेतोरिव, (इत्यनुषङ्गः), मौनं तूष्णीम्भावं चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धः ।

टिप्पणी—घोड़ों के नथुने बड़े बड़े होते हैं, इसलिये वे प्रायः फड़कते रहते हैं भावावेग में बोलने का प्रयत्न करते हुए भी नथुने फड़का करते हैं, इसलिए नल के अश्व के नथुनों के फड़कने पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि वह मानों अपने वेग का दर्प राजा से बताने को उत्सुक है, लेकिन इस कारण चुप रह जाता है कि अश्वहृदयवेदी नल उसका आशय जानता ही है पिष्टपेषण से क्या ? वेद—√विद्+लट् ॥६०॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः
परानपेक्षोद्वहनाद् यशस्सितम् ।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां
हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥६१॥

अन्वय—महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनाद् यशस्सितं रदावदातांशुमिषाद् रवेः अनीदृशाम् अर्वतां बलम् अन्तः हसन्तम् (हयमारुरोह) ।

अनुवाद—महारथी सम्राट् (नल) को मार्ग में दूसरे की अपेक्षा के बिना ही ले जाने के कारण यश से धवल, (इसलिये) दाँतों की शुभ्र किरणों के व्याज से सूर्य से घोड़ों के, जो ऐसे (यश से धवल) नहीं थे, बल का मन ही मन उपहास करते हुए (अश्व पर चढ़ा) ।

मल्लि०—महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य, ('आत्मानं सारथिञ्चाश्वं रक्षन् युद्धयेत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीति-कोविदाः' इत्युक्तलक्षणस्य), रथिकविशेषस्येत्यर्थः, अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्र राष्ट्रं वर्त्तयतीति चक्रवर्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य ('हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः । सगरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्त्तिनः' इत्यागमात्), अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्त्तनशीलस्येत्यर्थः अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षम्, (पचाद्यच्) परेषामनपेक्षं तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतो-र्यशःसितं कीर्तिविशदम् अतएवामीदृशामीदृशयशोरहितानाम्, ('सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमिति' सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः), रवेरर्वताम-श्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः । (अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमाप-हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात् । 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः) ।

टिप्पणी—अभिप्राय यह है—नल का श्वेत घोड़ा अकेला ही महारथी सम्राट् नल को ले जाता था, इसलिये वह यश से धवल था, लेकिन सूर्य

घोड़े हरे रंग के हैं और सात मिलकर उसके रथ को, जो केवल एक चक्र से चलता है, खींचते हैं, इसलिये वे नल के घोड़ों के समान नहीं हैं। अतः वह, मानो, अपने शुभ्र दाँतों की किरणों के व्याज से उनके बल का उपहास कर रहा था। महारथस्य—महारथ के दो अर्थ हैं—(१) महारथी (पारिभाषिक शब्द), (२) महान् रथ वाला। चक्रवर्तिनः—(१) सार्वभौम राजा, जिसके अधीन अनेक मण्डल हों, (२) चक्रेण वर्तनशीलस्य अर्थात् एक पहिये से चलने वाला। दैवतकथा के अनुसार सूर्य के रथ में एक पहिया है और उसे सात घोड़े खींचते हैं। अन्तर्बलम्—मल्लिनाथ ने इसे एक पद का मानकर 'अन्तः-सार' अर्थ किया है ॥६१॥

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो
मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।
स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकै-
रनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

अन्वय—सितत्विषः चञ्चलतामुपेयुषः पुच्छस्य च केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजताम् अनिह्नुवानम् (हयमारुरोह)।

अनुवाद—धवल कान्ति वाले तथा चञ्चलता को प्राप्त हुए पुच्छ और गर्दन के बालों के व्याज से चलते हुए दो चामरों के चिह्नों से प्रकट हुए अपने घोड़ों के राजा होने को प्रकाशित करते हुए (घोड़े पर चढ़ा)।

मल्लि०—सितेति। पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषः, चञ्चलस्येत्यर्थः, पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थ-बालस्य च मिषेण छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तिमिव। अराज्ञः कथञ्चामरयुग्ममिति भावः। पूर्ववदलङ्कारः।

टिप्पणी—कवि ने नल के घोड़े के धवल और चञ्चल पूँछ और गर्दन के बालों में डुलाये जाते हुए दो चामर होने की उत्प्रेक्षा की है। जैसे किसी राजा के दोनों ओर चामर डुलाये जाते हैं, वैसे ही उस घोड़े पर भी पूँछ

और अयाल के रूप में, मानों, चामर डुलाये जा रहे थे। इससे प्रकट होता था कि वह मानों, घोड़ों का राजा था। उपेयुषः—उप+√इ+क्वसु ॥६०॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे
मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रय-
स्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

अन्वय—रयस्मये प्रसभंजितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि प्रतिमल्लिताम् उपेयिवांसम् (हयमारुरोह)।

अनुवाद—वेग के दर्प में हठात् पराजित गरुड की, मुख में लगी हुई लम्बी तथा सुन्दर बागडोर के कारण सर्पों के भक्षण के उद्योग में भी प्रतिद्वन्द्विता को प्राप्त किये हुए (घोड़े पर चढ़ा)।

मल्लि०—अपीति। पुनः कथम्भूतं स्थितम्? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव निर्जितस्य गरुत्मतः मुखानुषक्ता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गुः रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया, तन्मिषेणेत्यर्थः, द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषं तस्मिन् सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्विनामुपेयिवांसं प्राप्तम्। (तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम्। उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चेति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः)।

टिप्पणी—नल के घोड़े ने वेग में तो गरुड को पराजित कर ही दिया था, साथ ही, मुख में लगी बागडोर से ऐसा प्रतीत होता था, मानो, वह सर्प-भक्षण में भी गरुड़ का प्रतिद्वन्द्वी था क्योंकि उसकी लम्बी और सुन्दर बागडोर सर्प के समान थी। उपेयिवांसम्—उप+√इ+क्वसु ॥६३॥

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं
हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनः
तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

अन्वय—जिताखिलक्ष्माभृद् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयम् आरुरोह।

अनुवाद—वह (नल) जिसने सब राजाओं को जीत लिया था, जिसके विशाल नेत्र थे और जो पृथ्वी पर इन्द्र के समान था, सिन्धु देश में उत्पन्न, चन्द्र के समान तथा उच्चैःश्रवा (इन्द्र के अश्व) की शोभा का अनुकरण करने वाले उस घोड़े पर चढ़ा।

मल्लि०—स इति। जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन स अनल्पलोचनो विशालाक्षः, अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत्, क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च, सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवं समुद्रोद्भवञ्च (देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामित्यमरः), शीतमहःसहोदरं चन्द्रसवर्णमित्यर्थः, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेकयोनित्वादिति भावः, उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रियं हरन्तं तत्स्वरूपमित्यर्थः, तं हयमारुरोह। (अत्रोच्चैःश्रवसःश्रियं हरन्तमिवेत्युपमा। सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेयम्। क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः)।

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष द्वारा नल को इन्द्र के समान और उसके अश्व को उच्चैःश्रवस् के समान कहा गया है। सिन्धुजम्—(१) सिन्धुदेश में उत्पन्न (२) समुद्र से उत्पन्न। दैवत-कथा है कि उच्चैःश्रवस् नामक अश्व समुद्रमन्थन के समय समुद्र से निकला था। शीतमहस्सहोदरम्—शीतं महः यस्य स शीतमहाः चन्द्रः तस्य सहोदरम्— (१) चन्द्रमा के समान वर्ण वाला, (२) चन्द्रमा का भाई, क्योंकि दैवतकथा के अनुसार उच्चैःश्रवस् और चन्द्रमस् दोनों समुद्र से निकले है। जिताखिलक्ष्माभृत्—जिताः अखिलाः क्ष्माभृतः येन सः (१) जीत लिये है सब राजा जिसने (२) जीत लिये हैं सब पर्वत जिसने। इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के पंख काट दिये, केवल मैनाक पर्वत समुद्र में जाकर छिप गया, ऐसी दैवत-कथा है। अनल्पलोचनः—(१) विशाल हैं नेत्र जिसके, (२) अनल्प अर्थात् बहुत हैं नेत्र जिसके, दैवत-कथा में इन्द्र को सहस्राक्ष कहा गया है। क्षितिपाकशासनः—क्षित्याः पाकशासनः इन्द्रः अर्थात् पृथ्वी का इन्द्र। यहाँ नल में इन्द्र का अध्यवसान होने के कारण अतिशयोक्ति हुई ॥६४॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधिर्ति
स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं
प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥६५॥

अन्वयः—निजा प्रकाशरूपाः अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तं मनुजेशं मयूखाः तिग्मदीधितिमिव अन्वयुः ।

अनुवाद—उसके अपने, उज्ज्वल आकार वाले अश्वारोही, स्पष्ट कमल (की रेखा) से चिह्नित कमल के समान कर वाले, वेगशाली अश्व से जाने वाले उस राजा के पीछे, जैसे किरणें सूर्य के पीछे, चले ।

मल्लि०—निजा इति । निजा आत्मीया; प्रकाशरूपा उज्जवलाकारा भास्वररूपाश्च, अश्वान्वारयन्तीत्यश्ववाराः अश्वारोहाः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्तं जवनो जवशीलः, (जुचङ्क्रमेत्यादिना युच्), तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तथोक्तं मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीशं राजानञ्च तं नलं तिग्मदीधितिं सूर्य्यं मयूखा इव अन्वयुः अन्वगच्छन् । (यातेलंङ् झेर्जुसादेशः) ।

टिप्पणी—श्लोक का अभिप्राय यह है कि जैसे किरणें सूर्य के साथ चलती हैं, उसी प्रकार अश्वारोही भी नल के साथ-साथ चले । यहाँ विशेषण शब्द श्लिष्ट हैं, इसलिये नल और सूर्य के पक्ष में उनके अर्थ भिन्न-भिन्न होंगे। **स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्**—स्फुटेन अरविन्देन अङ्कितः पङ्कजमिव पाणिर्यस्य तम् अर्थात् (१) स्पष्ट पद्माकार रेखा से युक्त है कमलतुल्य कर जिसका सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार भाग्यशाली मनुष्यों के हाथ में कमल, शङ्ख आदि के चिह्न होते हैं, (२) खिले हुए अरविन्द से युक्त हैं कमलतुल्य कर किरणें) जिसके, क्योंकि सूर्य के निकलने पर कमल खिलते हैं। **जवनाश्वयायिनम्**—(१) जवनेन अश्वेन यातीति अर्थात् वेगवान् अश्व से जाने वाला, (२) जवनैः अश्वैर्यातीति अर्थात् वेगवान् अश्वों से जाने वाला, क्योंकि दैवतकथा के अनुसार सूर्य के सात घोड़े हैं । **अन्वयुः**--अनु+√या+लङ् अन्यपु० बहुव० ॥६५॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं
स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्
व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

अन्वय—वाहवाहोचितवेषपेशलः महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् स नलः प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः जनैः व्यलोकि ।

अनुवाद—अश्व के वाहन के योग्य वेष से सुन्दर, महावेगशाली अश्व को अलङ्कृत करके चलते हुए उस नल को नगरवासी लोगों ने, जिनके नेत्रों के पलक प्रमोद के कारण अतिनिश्चल थे, देखा ।

मल्लि०—चलन्निति । वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितने पथ्यचारुः, ('चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः स नलो महारयमतिजय हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः, प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषां तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः, लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः । (वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः) ।

टिप्पणी—वाहवाहोचितवेषपेशलः—वाहस्य अश्वस्य वाहे संचारणे उचितेन वेषेण पेशलः, अर्थात् अश्व को चलाने के योग्य वेष से सुन्दर । अलङ्कृत्य महारयं हयम्—अश्व को अलङ्कृत करके अर्थात् अपने बैठने से उसकी शोभा बढ़ाकर । अलङ्कृत्य—अलम् + √कृ + ल्यप्, भूषण अर्थ में 'अलम्' का कृ धातु के साथ समास हो जाता है, ('भूषणेऽलम्' पाणिनि १–४–६४) ॥६६॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः
प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्
बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ॥६७॥

अन्वय—अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एष प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ।

अनुवाद—इसके पश्चात् चन्द्रमा के समान कान्ति वाला और इन्द्र के समान बल वाला यह (नल) घोड़े से, जिसका वेग वायु के द्वारा भी अध्ययन किया जाने योग्य था, क्षण भर में ही लोगों के दृष्टिपात के साथ ही नगर से बाहर हो गया।

मल्लि०—क्षणादिति । अथानन्तरं क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूतपौरुषः इन्द्रस्येव पौरुषं कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नलः, प्रभञ्जनेन वायुना अध्येयः शिक्षणीयः जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणादिति क्षणात्ताभिः पूर्वोक्ताभिः जनानां दृष्टिवृष्टिभिः दृक्पातैः सह, जनैर्दृश्यमान इवेत्यर्थः, बहिःपुरः पुराद्बहिः वहि स्थितोऽभूदिति, (बहिर्योगे पञ्चमी) । पूर्वं पुरे दृष्टः क्षणादेव पुराद् बहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्तिः ।

टिप्पणी—क्षणदापतिप्रभः—क्षणदायाः रात्रेः पतिस्तस्य प्रभेव प्रभा यस्य सः, अर्थात् चन्द्रमा के समान कान्ति वाला । सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिः—जनाना दृष्टयस्तासां वृष्टिभिः, उन (पूर्व श्लोक में वर्णित प्रमोदनिष्पदन्तर) दृष्टिपात के साथ ही, अर्थात् जैसे ही नागरिकों ने उसे देखा वैसे ही वह पवन के समान वेगशाली घोड़े पर सवार होकर क्षण भर में ही नगर से बाहर चला गया । अध्येय—अधि + √इङ् + यत् ॥६७॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी
परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहला-
न्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥६८॥

अन्वय—ततः प्रतीच्छ प्रहर इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नासीरगते नलस्य सादिबले कुतूहलात् मृषामृधं वितेनतुः ।

अनुवाद—तत्पश्चात् 'लो, मारो' इस प्रकार कहने वाली, अग्र भाग में

स्थित, नल की अश्वारोहियों की दो सेनाओं ने, जिन्होंने एक दूसरे की ओर तोमर के अग्रभाग उठाये, कुतुहलवश कृत्रिम युद्ध किया।

मल्लि०—तत इति। ततः पुराद् बहिर्गमनान्तरं प्रतीच्छ गृहाण प्रहर जहीति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थः, परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तथोक्ते, (शल्यं तोमरमिति अमरः), नलस्य नासीरगते नासिकाग्रवर्त्तिनी, (सेनामुखन्तु नासीरमित्यमरः), सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषामृधं मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकमित्यर्थः, वितेनतुश्चक्रतुः। (मृधमायोधनं संख्यमित्यमरः)।

टिप्पणी—सादिबले (नपुं० द्वि०)—सादिनामश्वारोहिणां बले सेने .र्थात् घुड़सवारों की सेना। नासीरगते—नासीर सेना के अग्रभाग को कहते हैं। वितेनतुः—वि+√तन्+लिट् द्विवचन अन्यपु० ॥६८॥

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदम्
धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः
पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

अन्वय—इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदं तद् अम्भोधिः अपि स्थलायताम् इतीव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

अनुवाद—'यह पृथ्वी हमारे चलने के लिये कितना स्थान है ? इसलिये समुद्र भी स्थल बन जाये इस विचार से, मानो, अपने वेग के गर्वीले घोड़ों ने समुद्र को पाट देने के लिये पर्याप्त धूलि उड़ायी।

मल्लि०—प्रयातुमिति। इयं धरा भूः, समुद्रातिरिक्तेति भावः, अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत्पदम् ? गन्तव्यं स्थानं न किञ्चित्पर्याप्त मित्यर्थः। तत् तस्मादम्भोधिरपि स्थलायतां स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः। (कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति क्यङ् प्रत्ययः)। इतीवेति। इतीव इति मत्वेत्यर्थः, (इतिनैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा),

निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रज उत्थितम् उत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ।

टिप्पणी—घोड़ों के दौड़ने पर धूलि उठी । उस पर कवि कल्पना करता है कि घोड़े, मानो इस विचार से कि पृथ्वी दौड़ने के लिये छोटी रहेगी, इसलिये समुद्र को स्थल बना दिया जाये, धूलि उड़ा रहे थे । स्थलायताम्—स्थल+क्यङ् (नामधातु) लोट् लकार ॥६९॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं
पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननै-
र्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः ॥७०॥

अन्वय—यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणेऽपि नः हरीणां त्रपा इति नम्रिताननैः अर्धनभःकृतक्रमैः तैः न्यवर्ति ।

अनुवाद—'जिस आकाश को विष्णु के अकेले चरण ने लाँघ दिया, उसका चार चरणों से लङ्घन करने पर भी हम अश्वों के लिये लज्जा की बात है' इस (विचार) से, मानो, मुख झुकाए और आधे आकाश का लङ्घन कर चुके हुए वे (घोड़े आकाशलङ्घन के व्यापार से लौट) पड़े ।

मल्लि०—हरेरिति । यत् खमाकशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना, (एकादाकिनिच्चासहाये इति चकारात् कन्प्रत्ययः), पदा पादने (पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामित्यमरः । पद्दन्नित्यादिना पदादेशः) अक्रामि अलङ्घि. तस्य खस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे लङ्घने; कृते सत्यपीति शेषः, हरीणां वाजिनां विष्णूनां चेति गम्यते, (यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वित्यमरः), उभयत्रापि नोऽस्माकं त्रपेति इवेत्यर्थः, (गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोगः, अतएव गम्योत्प्रेक्षा), नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तैः हरिभिः अर्द्धं नभसि कृतक्रमैः कृतलङ्घनैः सद्भिर्न्यवर्ति निवर्त्तितम् । (भावे लुङ्) । यदन्येन पुंसा लघूपायेन साधितं तस्य गुरूपायेन करणं समानस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलङ्घनस्य सम्भवादिति भावः ।

टिप्पणी—हरेः, हरीणाम्—हरि शब्द में श्लेष है (१) विष्णु, (२) अश्व। विष्णु और अश्व के अर्थ में प्रयुक्त 'हरि' शब्द का साम्य ही यहाँ उत्प्रेक्षा का आधार है। नल के अश्व इसलिए लज्जित हैं कि वामनावतार में विष्णु (हरि ने एक चरण से सम्पूर्ण आकाश को लाँघ लिया था और अब वे अश्व (हरि) चरणों से आकाश का लङ्घन करना चाहते हैं। एक ही जाति के व्यक्तियों के लिये अधिक उपाय से समान कार्य करना लज्जा का कारण होता है। अक्रामि —√क्रम्+लुङ् (कर्मवाच्य)। न्यवर्ति—नि+√वृत्+लुङ् (भाववाच्य)। अर्धनभःकृतक्रमैः—अर्धे नभसि कृतः क्रमः लङ्घनं यैस्तैः, जिन्होंने आधे आकाश का लङ्घन कर लिया था। क्योंकि घोड़े प्लुतगति से जा रहे थे, वे अधिकतर आकाश में चलते थे और बीच बीच में पृथ्वी का स्पर्श करते थे। इसलिये कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि मानो, लज्जा के कारण सिर झुका कर आकाश के अतिक्रमण से निवृत्त हो जाते थे ॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो
जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डली-
मकारयन् भूरि तुरङ्गमानपि ॥७१॥

अन्वय—तस्य नृपस्य चमूचराः सैन्धवाः सादिनः जिनोक्तिषु श्राद्धतया इव तं विहारदेशम् अवाप्य तुरङ्गमानपि भूरि मण्डलीम् अकारयन्।

अनुवाद—उस राजा की सेना के, सिन्धु देश में उत्पन्न घोड़े वाले, घुड़सवारों ने जैनशास्त्रों में श्रद्धा रखने के कारण, मानो, उस विहारभूमि को प्राप्त करके घोड़ों से भी बहुत मण्डलाकार गति करायी।

मल्लि०—चमूचरा इति। तस्य नृपस्य चमूचराः सेनाचराः, (चरेष्टच्), सिन्धुदेशभवाः सैन्धवाः अश्वाः, ('हयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः। 'तत्र भवः' इत्यण् प्रत्ययः), तत्सम्बन्धिनोऽपि सैन्धवाः, (तस्येदमित्यण्), ते सादिनः अश्वसादिन इत्यर्थः, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, (श्रद्धा-



चावृत्तिभ्योऽणिति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्ययः), तं विहारदेशं सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च, (विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालय इति विश्वः), अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुलं मण्डलीमपि मण्डलाकारं च अकारयन्, अपिशब्दोऽवाप्ति-समुच्चयार्थः, अन्यत्र मण्डलीं मण्डलासनमित्यर्थः। बौद्धाः स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण माण्डलानि कुर्वन्ति इति प्रसिद्धिः।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विहारदेश' और 'मण्डलीम' में श्लेष है और यह श्लेष 'जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव' उत्प्रेक्षा का आधार है। विहारदेशम्—(१) विहारभूमि जहाँ राजा नल एकान्त सेवन के लिये जा रहा था। (२) जैन और बौद्धों के मठ। मण्डलीम्—(१) वर्तुलाकार गति। (२) वृत्त बनाकर बैठना। श्लोक का अभिप्राय यह है कि जब अश्वारोही सैनिक विहारकानन भूमि में पहुंचे तो वे अपने घोड़ों को चक्राकार गति में दौड़ाने लगे। इसी पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि उन अश्वारोहियों को, मानो, जैनशास्त्र के वचनों में बड़ी श्रद्धा थी इसलिये उन्होंने विहारभूमि में पहुंचकर घोड़ों से भी मण्डली बनवाई। जैन भी मठों में जाकर मण्डली (वृत्त) बनाकर बैठते हैं। सैन्धवाः—सिन्धौ भवाः सैन्धवाः, सैन्धवाः सन्ति येषां तेऽपि सैन्धवाः, सिन्धु देश में उत्पन्न घोड़े और वे घोड़े जिनके हों वे भी सैन्धव कहलायेंगे। सिन्धु + अण् + मत्वर्थीय अण्। श्राद्धतया—श्रद्धा + मत्वर्थीय, अण् + भावार्थक तल्॥७१॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो
यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य्य मण्डली-
क्रियाश्रियामण्डि तुरङ्गमैः स्थली॥७२॥

अन्वय—'दिशः अस्य द्विषद्भिरेव विलङ्घिताः, अब्धिः यशोभिः एव गोष्पदम् अकारि' इतीव तुरङ्गमैः धारामवधीर्य्यं मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि।

अनुवाद—दिशायें इसके शत्रुओं न ही लांघ दी हैं, समुद्र को (इसके

यशों ने ही गोष्पद (छोटा) कर दिया है इस विचार से, मानो, घोड़ों ने धारा गति को छोड़कर मण्डलाकार गति की क्रिया की शोभा से विहारस्थली को भूषित किया।

मल्लि०—द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव, पलायमानैरिति भावः, दिशो लङ्घिताः, अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्रः कृतः, (गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणार्थे इति सुडागमषत्वयोर्निपातः), इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यसाधारणं कर्म नोत्कर्षाय भवेदिति भावः, तुरङ्गमैर्धाराङ्गति जातावेकवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः। 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्चधाराः' इत्यमरः), अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या, मण्डलगत्यैवेत्यर्थः, स्थली कृत्रिमा भूः, (जानपदेत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप्), अमण्डि अभूषि। (मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् इदित्त्वान्नुमागमः)।

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में वर्णन किया गया है कि घोड़े मण्डलाकार गति में दौड़ रहे थे, उसी पर कवि ने दूसरी उत्प्रेक्षा की है। क्योंकि दिशाओं का लंघन नल के पराजित शत्रु कर चुके थे और समुद्र को नल के यशों ने पहले ही भर दिया था, इसलिये लाँघने के लिये कुछ भी शेष न था। इसलिये, मानो, वे मण्डली बना रहे थे। गोष्पदम्—गोः पदम् गोष्पदम्, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु' सूत्र के अनुसार प्रमाण अर्थ में सुडागम और षत्वनिपातन होता है। इसलिये गोष्पद का अर्थ है 'गौ के खुर के बराबर' अर्थात् छोटा। अमण्डि—√मण्ड्+णिच्+लुङ् (कर्मवाच्य)। अकारि—√कृ+लुङ् (कर्मवाच्य) ॥७२॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमी-
र्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते
वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् ॥७३॥

अन्वय—नलः निजातपत्रस्य तलस्थले याः भ्रमीः चारु अचीकरत् तासु मरुत् वात्यामयचक्रङ्क्रमाम् वितत्य अद्यापि न शिक्षते ?

अनुवाद—नल ने अपने छत्र के नीचे घोड़े से जो मण्डलाकार गति सुन्दरता के साथ कराईं, उनके विषय में वायु वात्या (बवण्डर) के रूप में वर्तुलाकार भ्रमण करके अब भी नहीं सीख रहा है, क्या ?

मल्लि०—अचीकरदिति । नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अधःप्रदेशे, (अधःस्वरूपयोरस्त्री तलमित्यमरः), या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, (करोतेर्णौ चङ्) तासु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वातानां समूहो वात्या, (वातादिभ्यो यः), अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचङ्क्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य्य न शिक्षते किं नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा, शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गति कुर्यादित्यर्थः । वायोरप्यसम्भाविता गतीरचीकरदिति भावः ।

टिप्पणी—श्लोक का भाव यह है कि नल ने घोड़े को सुन्दरता से जैसी मण्डलाकार गति में चलाया, वायु वात्या के रूप में आज भी वैसी मण्डलाकार गति का अभ्यास कर रहा है । किमद्यापि न तासु शिक्षते—इसमें काकु है, इसलिये इसका अर्थ होगा—सीखता ही है । अचीकरत्—√कृ+णिच्+लुङ् ।।७३।।

विवेश गत्वा स विलासकाननं
ततः क्षणात् क्षौणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया
हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ।।७४।।

अन्वय—ततः स क्षौणिपतिः क्षणात् गत्वा धृतीच्छया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायं विलासकाननम् अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिः इव विवेश ।

अनुवाद—तदन्तर वह पृथ्वीपति क्षण भर में पहुँचकर धैर्य की इच्छा से नूतन पल्लवों की लालिमा से युक्त और गहन छाया वाले क्रीडा—वन

(मूँगों की लालिमा से युक्त और बादल के समान कान्ति वाले) समुद्र में सोने की इच्छा से विष्णु के समान प्रविष्ट हुआ।

मल्लि०—विवेशेति। ततः स क्षोणिपतिः क्षणाद् गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः, (प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लव इत्यमरः), तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रुषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति (छाया त्वनातपे कान्ताविति विश्वः) विलासकाननं क्रीडावनम्, अन्यत्र (बवयोरभेदात्) विलासकानां विलेशयानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसान्निधिमिब्धिमिव विवेश।

टिप्पणी—यहाँ 'प्रावालरागच्छुरितम्' और 'घनच्छायम्' में श्लेष है इसलिये ये 'विलासकाननम्' और 'अम्भसां निधिम्' उपमेय-उपमान दोनों के विशेषण होंगे। मल्लिनाथ ने 'विलासकाननम्' में भी 'विलासकानां सर्पाणामाननं प्राणनम्' विग्रह करके श्लेष माना है और उसे 'अम्भसां निधिम्' का विशेषण बनाया है। लेकिन 'उपमेय' पद को इस प्रकार भङ्ग करके उपमान का विशेषण लगाना उचित प्रतीत नहीं होता ॥७४॥

वनान्तपर्य्यन्तमुपेत्य सस्पृहं
क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।
न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसा-
मनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥७५॥

अन्वय--अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पुरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे न्यवर्त्ति।

अनुवाद—पीछे जाते हुए बान्धव-समूह के समान नगरवासियों की दृष्टियाँ वन-सीमा तक अभिलाषापूर्वक जाकर क्रमशः उस (नल) के दृष्टिपथ से पार हो जाने पर लौट आईं।

मल्लि०—वनान्तेति। अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः (अतएवोपमालङ्कारः), पुरौकसां दृष्टिप्रकरैर्दृष्टिसमूहैः कर्त्त-

भिर्वनान्तपर्य्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उदकप्रान्तपर्य्यन्तञ्चेति गम्यते, (वने सलिलकानने इत्यमरः), सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा अथ अनन्तरं क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्तम् (भावे लुङ्) । यथा बन्धुभिः उदकात् 'प्रियं पान्थमनुव्रजेद्' 'इत्यागमात्' प्रवसन्तमनुव्रज्य निवर्त्त्यते, तद्वदित्यर्थः ।

टिप्पणी—जैसे बन्धुबान्धव जन प्रेम के कारण प्रवास में जाने वाले इष्टजन के साथ जलाशयपर्यन्त जाकर लौट आते हैं, वैसे ही नागरिकों की दृष्टियाँ वनपर्यन्त नल के साथ गईं और जब वह दृष्टि से ओझल हो गया तो वे नल की ओर से हट गईं । अवतीर्णदृक्पथे—अवतीर्णः दृशां पन्थाः येन तस्मिन्, जिसने दृष्टि का मार्ग पार कर लिया अर्थात् दृष्टि से परे । वन—(१) कानन, (२) जल । न्यवर्ति—नि + √वृत् + लुङ् (भाववाच्य) ॥७५॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले
स सम्मुखस्थाङ्गुलिना जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना
व्यलोकयत्काननरामणीयकम् ॥७६॥

अन्वय—ततः स जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने च फले च सम्मुखस्थाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत् ।

अनुवाद—तब उस राजा (नल) ने सुन्दर पुष्प और फल की ओर उठी हुई अङ्गुली वाले माली के कर से बतलाये जाते हुए वन के सौन्दर्य को देखा ।

मल्लि०—तत इति । ततः वनप्रवेशान्तरं स जनाधिपो नलः मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी संमुखावस्थितवस्तुप्रकाशिकेति यावत्, (यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः ख इति खप्रत्ययान्तो निपातः), तादृशी अङ्गुली यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थः, काननरामणीयकं वनरामणीयकम् (योपधाद्गुरुपोत्तमाद् वुञ् इति वुञ्प्रत्ययः) व्यलोकात् अपश्यदिति । (स्वाभावोक्तिः) ।

टिप्पणी—प्रसूने च फले च—यहाँ प्रसून और फल में विषय-सप्तमी है, इसलिये उसका अर्थ हुआ—पुष्प और फल के विषय में (और)। सम्मुखस्थाङ्गुलिना—सम्मुखस्था अङ्गुलिः यस्य तेन (बहुव्रीहि)। विवेद्य-मानम्+नि+√विद्+णिच्+शानच् (कर्मवाच्य)। काननरामणीयकम्—काननस्य रामणीयकम्, रमणीयस्य भावः रामणीयकम्, रमणीय+वुञ् प्रत्यय ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे
वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्धका-
द्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

अन्वय—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः वने शाखिभिः महर्षिवार्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि।

अनुवाद—पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न वायु से कम्पित पल्लव रूपी कर में फल और पुष्प रखकर खड़े हुए वन के वृक्षों ने वृद्ध महर्षियों के समूह से उसका अतिथि-सत्कार करना सीखा।

मल्लि०—फलानीति। वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन बाल्याद्यपगमेन चोद्-गतेनोत्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते, (खगबाल्या-दिनोर्वय इत्यमरः), पल्लव एव करे, (इति व्यस्तरूपकम्), फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैस्तिष्ठद्भिः वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, (शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपीति वैजयन्ती), तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, (अतिथेर्ञ्यः इति ञ्यप्रत्ययः) महर्षीणां वार्धकाद् वृद्धसमूहात्, तन्नत्यवृद्धमहर्षिसङ्घादित्यर्थः, (शिवभागवतवत्समासः। 'वृद्धसङ्घे तु वार्द्धकम्' इत्यमरः। 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमिति समूहार्थे वुञ् प्रत्ययः), अशिक्षि शिक्षित-मभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः। (कर्मणि लुङ्। उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः)।

टिप्पणी—यहाँ 'वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते' और शाखिभिः' में श्लेष हैं। वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते—(१) वयसां पक्षिणामतिपातेन उत्पतनेन उद्गतः उत्पन्नः यो वातः वायुस्तेन वेपिते, अर्थात् पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न वायु से कम्पित, (जैसा अनुवाद में दिया गया है), (२) वयसः यौवनस्य अतिपातेन अपगमेन उद्गतेन वातेन वायुदोषेण वेपिते, अर्थात् यौवन बीत जाने के कारण उत्पन्न वातदोष से कम्पित। शाखिभिः—(१) शाखाः विटपाः सन्त्येषां शाखिनः, वृक्ष (२) शाखा वेदशाखा एषां सन्ति इति, वेदशाखा का अध्ययन करने वाले, शाखा+इनि (मत्वर्थीय)। श्लोक का दूसरा अर्थ इस प्रकार होगा—यौवन-अवस्था के बीत जाने से उत्पन्न वायुदोष से कम्पित पल्लव तुल्य कर में पुष्पों और फलों को लेकर स्थित वेदों की शाखाओं का अध्ययन करने वाले (शिष्यों) ने वृद्ध महर्षियों के समूह से आतिथ्य करना सीखा। वार्धकम्—वृद्धानां समूहः वार्धकम्; वृद्ध+वुञ्। आतिथ्यम्—अतिथेर्भावः कर्म वा, अतिथि+ञ्य। अशिक्षि—√शिक्ष्+लुङ् (कर्मवाच्च)॥७७॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवा-
न्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः
स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम्॥७८॥

अन्वय—विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं कैतकं तत्र कौतुकी (सन्) ददर्श।

अनुवाद—खिली हुई पंखुड़ियों के मध्य में स्थित भ्रमरावलि के व्याज से शिव के द्वारा छोड़ दिये जाने से उत्पन्न, दिशाओं में व्याप्त होने वाले अपयश को धारण करते हुए केतकी के पुष्प को वहाँ (वन में) उस (नल) ने कुतुहलपूर्ण होकर देखा।

मल्लि०—विनिद्रेति। विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थितभृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्ज्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पा-

दितम्, (न केतक्या सदाशिवमिति निषेधादिति भावः), आशासु चरिष्णु सञ्चरणशीलम्, (अलङ्कृञित्यादिना चरेरिष्णुच् प्रत्ययः), दुर्यशोऽपकीर्त्ति वधानं कैतकं केतकीकुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अर्हस्य महापुरुषस्य वहिष्कारो दुष्कीर्त्तिकर इति भावः। (अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारोपादपह्नुत्यलङ्कारः, निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिरिति लक्षणात्)।

टिप्पणी—जब राजा नल ने उपवन में भ्रमरावलि से युक्त केतकी-पुष्प देखा तो उसे बड़ा कुतूहल हुआ। ऐसा प्रतीत होता था कि पुष्प के अन्दर भ्रमर नहीं थे, अपितु वह केतकी-पुष्प का अपयश था जो शिव द्वारा त्याग दिये जाने से उत्पन्न हुआ था और वह अपयश पुष्प में से निकलकर उड़ते हुए भ्रमरों के रूप में सब दिशाओं में फैल रहा था। केतकी का पुष्प शिव-पूजा में वर्जित है, इस वर्जना से ही उसका अपयश हो गया है। मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्—मृगाङ्कः चूडायाः शिरसः मणिर्यस्य तस्य शिवस्य (कर्तुः) वर्जनेन परित्यागेन अर्जितम्, अर्थात् शिव द्वारा किये गये वर्जन से उत्पन्न। चरिष्णु—√चर्+इष्णुच्, व्यापनशील। कैतकम्—केतक्याः इदम्, केतकी+अण्, केतकी-सम्बन्धी ॥७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटु-
र्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृ-
द्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥७९॥

अन्वय—यत् (त्वम्) स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुः कर्णिशरः निधीयसे, ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत मन्मथदेहदाहिना विगीयसे।

अनुवाद—क्योंकि तुझे कामदेव वियोगियों के हृदय में काँटों से तीक्ष्ण कर्णिशर (के रूप में) रखता है, इसलिये कठिनता से बाहर खींचे जा सकने के कारण उन (वियोगियों) का अन्त करने वाला (तू) कामदेव के देह को जलाने वाले (शिव) से निन्दित है।

मल्लि०—अथ त्रिभिः कैतकोपालम्भमाह—वियोगेत्यादि । हे कैतक, यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः, (कैतकविशेषणस्यापि कर्णिशरस्य विशेषणत्वविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः किन्तु उद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्, कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः सन्निधीयसे, (कण्टककटोः कैतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः) ततः कर्णिशरत्वात् दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयसे विगर्ह्यसे । (द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यसह्यमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किम् वक्तव्यमिति भावः । अत्रेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतवियोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः) ।

टिप्पणी—केतकी-पुष्प में कांटे होते हैं, इसलिये उसमें कर्णिशर (फलक मुख से विपरीत नोकदार कांटों वाला बाण) का आरोप किया गया है । शिव ने, मानों केतकी-पुष्प का त्याग इसलिये कर दिया है क्योंकि वह वियोगियों की हिंसा करने वाला है । निधीयसे—नि + √धा + लट् (कर्मवाच्य) । विगीयसे—वि + √गै + लट् (कर्मवाच्य) । दुराकर्षतया—दुर् + आ + कृष् + खल् (कर्मणि) + तल् (भावे) ॥७९॥

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनो-
र्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ ।
स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभि-
र्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

अन्वय—त्वदग्रसूचीसचिवः मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति, स्फुटञ्च, करपत्रमूर्तिभिः पत्रैः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ।

अनुवाद—वह कामदेव, तेरे अग्रभाग रूपी सुई जिसके सचिव हैं, कामी और कामिनी के दुर्यश रूपी दो वस्त्रों को सिलता है, और स्पष्ट ही, (वह तेरे) आरे के समान आकार वाले पत्तों से वियोगियों के हृदय रूपी लकड़ी को चीरता-सा है ।

मल्लि०—त्वदिति । तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी कामिनौ तयोः, (पुमान् स्त्रियेत्येकशेषः), दुर्यशांसि अपकीर्त्तयस्ता: पटौ, (इति रूपकम्), तानि सीव्यति, कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः । किञ्चेति चार्थः । करपत्रमूर्त्तिभिः क्रकचाकारैः, (क्रकचोऽस्त्री करपत्रमित्यमरः), पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृद्येव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते । ('कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति' क्यङन्तात् लट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में केतकी के काँटों में सुई का, दुर्यश में पट का तथा हृदय में 'दारु' (काष्ठ) का आरोप किया गया है । दारुणायते—दारुणः विदारकः स इव आचरति इति, दारुण+क्यङ् (नामधातु), छेदने वाले की तरह करता है ॥८०॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽतिभीमजा-
परं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मा-
मिति क्रुधाक्रुश्यत तेन कैतकम् ॥८१॥

अन्वय—धनुर्मधुस्विन्नकरः प्रसूनधन्वा तव परागैः धूलिहस्तयन् अतिभीमजापरं मां शरसात्करोति इति तेन क्रुधा कैतकम् आक्रुश्यत ।

अनुवाद—धनुष के मकरन्द से गीले हाथों वाला, पुष्पों के धनुष वाला (कामदेव) तेरे पराग से हाथ में धूलि लगाता हुआ भीम की पुत्री में अत्यन्त आसक्त मुझको बाणों का लक्ष्य बनाता है, इस प्रकार उस (नल) ने क्रोध में केतकी-पुष्प को दोष दिया ।

मल्लि०—धनुरिति । हे कैतक, प्रसूनं धन्व धनुर्यस्येति प्रसून धन्वा पुष्पचापः, (वा संज्ञायामित्यनङादेशः) अतएव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अतएव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धूलितहस्तमात्मानं कुर्वन्, अन्यथा धनुःस्रंसनादिति भावः, (तत्करोतेर्ण्यन्ताल्लटः

शत्रादेश:), अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनङ्करोति, (तदधीने च इति सातिप्रत्यय:) अन्यथा त्रस्तचाप: स मां किं कुर्यादिति भाव:, इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राज्ञा क्रुधा कैतकमाक्रुश्यत अपराधोद्घाटनेन अघोष्यतेत्यर्थ: ।

टिप्पणी—धनुर्मधुस्विन्नकर:—धनुष: मधुना स्विन्न: कर: यस्य स:, धनुष के मकरन्द से जिसका कर क्लिन्न है । दैवत-कथा में कामदेव का धनुष पुष्पों का बना कहा जाता है । प्रसूनधन्वा—प्रसूनं पुष्पं धनुर्यस्य स: (बहुव्रीहि) बहुव्रीहि समास में 'धनुष' को 'धन्वन्' हो जाता है । धूलिहस्तयन्—धूलिना युक्त: हस्त: धूलिहस्त: तं कुर्वन्, गीले हाथ से धनुष न गिर जाय इसलिये हाथ में धूलि लगाते हुए, धूलिहस्त + णिच् + शतृ (नामधातु) । शरसात्करोति—शराधीनं करोति इति, शर + सातिप्रत्यय + क्त । 'उसके अधीन करता है' इस अर्थ में 'सात्' प्रत्यय जुड़ता है ॥८१॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये
घटानिवापश्यदलं तपस्यत: ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान्
स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

अन्वय—स दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये अलं तपस्यत: धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटानिव अपश्यत् ।

अनुवाद—उस (नल) ने दोहद और धूप वाले अनार के वृक्ष पर लगे फल, विदर्भ देश की सुन्दरी (दमयन्ती) के स्तनों की ऊंचाई प्राप्त करने के लिये अत्यधिक तप करते हुए, धुयें का पान करने वाले और नीचे की ओर मुख वाले, मानो, घट देखे ।

मल्लि०—विदर्भेति । ('तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलै: कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रियेति शब्दार्णवे) दोहदश्चासौ धूपश्च (तदुक्तम्, (मेषामिषाम्बुसंसेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानयं प्रयोग: स्यात् दाडिमीफल-

वृद्धये ।। मत्स्याज्यत्रिफलालेपैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलं तालीव दाडिमी ।। आविक्वाथेन संसिक्ता धूपिता तस्य रोमभिः । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च' ।। इति), तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्याः स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये,, तादृगौन्नत्यलाभायेत्यर्थः, अलमत्यर्थं तपस्यतस्तपश्चरतः, ('कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरिति' क्यङ्प्रत्यये 'तपसः परस्मैपदञ्च वक्तव्यम्') धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातॄन्, (धेट् पाने । अत्रातश्चोपसर्ग इति उपसर्गग्रहणन्नानुवर्त्तते (इति) पक्षत्वात् पाघ्रेत्यादिनानुपसृष्टादपि धेटः शप्रत्यय इति गतिः । अतएव काशिकायां केचिदुपसर्ग इति नानुवर्त्तयन्तीति), अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलार्थिन इत्थम् उग्रं तपस्यन्तीति भावः ।

टिप्पणी—कवि ने कल्पना की है कि अनार के फल मानो घट थे । फल की वृद्धि के लिये अनार के वृक्षों को दोहद से सींचा गया था और धूप दी गई थी, इसलिये कवि कल्पना करता है कि मानों घट दमयन्ती के स्तनों के समान बड़े होने के लिये नीचे मुख करके धूमपान जैसी कठोर तपस्या कर रहे थे । **दोहदधूपिनि**—फल पुष्पों की वृद्धि करने वाला द्रव्य दोहद कहलाता है । और सुगन्धित पदार्थों को जलाकर उनका धुआँ देना धूप कहलाता है । अनार वृक्ष के दोहद के सम्बन्ध में ऊपर मल्लिनाथ की टीका देखिये । **धूमस्य धयान**—धूम का पान करने वाले । धूमपान कठोर तपस्या समझी जाती है, जिसे महान् फल की प्राप्ति के लिये किया जाता है । **तपस्यतः**—तपस्+क्यङ् (नामधातु) +शतृ ।।८२।।

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ
प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृ-
द्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ।।८३।।

अन्वय—असौ प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् (वियोगिनी) दाडिमीं वियोगिनीम् ऐक्षत ।

अनुवाद—उस (नल) ने (पक्षी के योग वाली) दाडिमी को, जिसे प्रिय की स्मृति के कारण स्पष्ट रूप से कांटे रूपी रोमाञ्च हो रहे थे और जिसके फल रूपी स्तनों के स्थान पर फटे हुए और लाल अन्दर के भाग रूपी विदीर्ण और अनुरागी हृदय में शुक-मुख रूपी कामदेव का पलाश-पुष्प का बाण प्रवेश कर रहा था, विरहिणी रूप में देखा।

मल्लि०—वियोगिनीमिति। असौ नलो प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव स्पष्टं व्यक्तम्, (उदीतेति ईण् गताविति धातोः कर्त्तरि क्तः), उदीताः उद्गताः कण्टकाः स्वावयवसूचय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति (श्लिष्टरूपकम्। वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति वैजयन्ती) फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णं रागो यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यत्तस्मिन् हृदि विशत् बीजभक्षणान्तःप्रविशच्छुकास्यरूपं शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुड्मलमेवाशुगो बाणो यस्यास्तां दाडिमीमेव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। (रूपकालङ्कारः)। विः पक्षी तद्योगिनीमिति च गम्यते।

टिप्पणी—इस श्लोक में श्लेष की सहायता से पक्षिसंकुल दाडिमी (अनार वृक्ष) का वियोगिनी रूप में वर्णन किया गया है। उदीतकण्टकाम्—उत्पन्न हुए हैं कण्टक (१) कांटे, (२) रोमाञ्च जिसके। अनार के वृक्ष में कांटे होते हैं, उनमें रोमाञ्च का आरोप किया गया है, श्लेष से कण्टक शब्द के दो अर्थ होंगे। उदीत—उत्+ई+क्त। वियोगिनीम्—(१) वीनां पक्षिणां योगिनीम्, अर्थात् पक्षियों के योग वाली (२) विरहिणी। फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्—फलानि एवं स्तनौ तत्र स्थाने विदीर्णम् (१) उद्घटितम् (२) भग्नं च तद् रागि (१) रक्तवर्णम् (२) अनुरागवत् य.., हृद (१) आभ्यन्तरभागः (२) हृदयं तस्मिन् विशत् यत् शुकस्य आस्यं त.व स्मरस्य किंशुकं पलाशपुष्पम् एव आशुगः बाणः यस्याः ताम्, फल रूपी स्तन-स्थान में भग्न तथा रक्त आभ्यन्तर भाग रूपी हृदय में प्रवेश कर रहा है। शुक-मुख रूपी कामदेव का पलाशपुष्प का बाण जिसके। यहां अनार के फल के भीतरी लाल भाग में प्रविष्ट होती हुई तोते की चोंच में, वियोगिनी के स्तन-स्थान के समीपवर्ती, विरह में भग्न, अनुरागी हृदय में प्रविष्ट होते हुए कामदेव के किंशुकवाण का आरोप किया गया है ॥८३॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे कृशीयसां
स्फुटे पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं
वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

अन्वय—स स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि कृशीयसाम् अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटे पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डजं खण्डम् आलोकत ।

अनुवाद—उसने कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के तुल्य, विरहियों के हृदय के खण्ड करने वाले, दुर्बलतर पथिकों का मांस खाने के कारण सार्थक पलाश नाम के पुष्प पर लगे वृन्त को यकृत् के खण्ड के रूप में देखा ।

मल्लि०—स्मरार्द्धेति । नलः स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्रः, अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे, (नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत आहामरः—"स्युरुत्तरपदे त्वमी: निभसङ्काशनीकाशप्रतिकाशोपमादयः" इति), वियोगिनां हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि कृशीयसां कृशतराणामध्वजुषाम् अध्वगामिनां पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशसंज्ञाभाजि, किंशुककलिकायामित्यर्थः, अन्वितं सम्बद्धं वृन्तं प्रसवबन्धनं तदेव कालखण्डजं खण्डं यकृत्खण्डमिति । (व्यस्तरूपकम्) आलोकत आलोकितवान् । कालखण्डं यकृत्समे, इत्यमरः । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थः कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेषः) ।

टिप्पणी—पलाशपुष्प की पंखुड़ियां लाल-से रङ्ग की होती हैं और उनका पिछला वृन्तभाग काला होता है । इसलिये कवि ने कल्पना की है कि वियोगी पथिकों को मांस खाने से उसका 'पलम् अश्नाति' इस व्युत्पत्ति से 'पलाश' नाम सार्थक है और काले वृन्त के रूप में पथिकों का यकृत्-भाग उसमें लग गया है ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता
करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला
दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥८५॥

अन्वय—गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः कराम्बिताङ्गी स्मितशोभि-कुड्मला दरकम्पिनी नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे ।

अनुवाद—वायु से छूई, पुष्प-रस की बूँदों से शबलित अङ्गों वाली खिलने के कारण शोभायुक्त पुष्पों वाली, मन्द-मन्द हिलती हुई नवलता का राजा ने भय और आदर के साथ दृष्टि से पान किया ।

मल्लि०—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा, अन्यत्रानुलिप्तेन पुंसा आश्लिष्टा, मकरन्दसीकरैः पुष्परसकणैः करम्बिताङ्गी व्यामिश्रितरूपा, अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते, स्मितशोभिनः विकासरम्या कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्याः सा, मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते, दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली, तत्सदृशी कान्ता च गम्यते, नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्याम् उपलक्षितेन सता पपे पीता गाढं दृष्टा इत्यर्थः । उद्दीपकत्वात् दरः प्रियासादृश्यदादरश्च । (दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्त्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम् इति वैजयन्ती । अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः, 'विशेषणस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते' इति लक्षणात्) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में लता के विशेषण श्लेषयुक्त हैं, विशेषणों के बल से लता के साथ-साथ नायिका की भी प्रतीति होती है, इसलिये यहाँ 'समासोक्ति' अलङ्कार है । गन्धवहेन—(१) वायु से, (२) गन्धद्रव्ययुक्त पुरुष से । मकरन्दशीकरैः—(१) पुष्परस की बूँदों से, (२) पुष्परस के समान (पसीने की) बूँदों से । स्मितशोभिकुड्मला—(१) स्मित (विकास) से शोभायुक्त है मुकुल जिसके, (१) मुस्कराहट से शोभाशाली रदन (दाँत) वाली । दरकम्पिनी—(२) (वायु के स्पर्श से) कुछ काँपने वाली, (२) (सात्त्विकभाव के कारण) कुछ काँपने वाली । दरादराभ्याम्—भय और आदर से । राजा ने लता को भय और आदर से क्यों देखा, इसकी टीकाकारों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है । डर से, इसलिये देखा क्योंकि वह उद्दीपक थी, और आदर से, क्योंकि सुन्दर थी ।।८५।।

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनै-
रपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः
स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

अन्वय—स पान्थपतङ्गहिंसनैः अलिकज्जलच्छलात् अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः चम्पककोरकावलीः शम्बरारेः बलिदीपिका इव व्यलोकयत् ।

अनुवाद—उसने पथिक रूपी पतङ्गों की हिंसा करने के कारण काजल में समान भौंरों के व्याज से अपुण्य कर्मों का संचय करती हुई चम्पक की कलियों की पङ्क्तियों को, मानो, कामदेव की पूजा के दीपकों को देखा ।

मल्लि०—विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, (पथोऽण् नित्यमित्यण्प्रत्ययः पन्थादेशश्च), त एव पतङ्गाः पक्षिणः, ('पतङ्गः पक्षिसूर्य्ययोः' इत्यमरः), तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीव (इत्युपमितसमासः), तेषां छलात् (इत्यपह्नवालङ्कारः), विचिन्वतीः संगृह्णतीः, हिंसापापकारिणीरित्यर्थः, चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इव, (इत्युत्प्रेक्षा), स नलो व्यलोकयत् ।

टिप्पणी—चम्पक की कलियों पर भ्रमर बैठे हुए थे, वह, मानो, उद्दीपक होने के कारण, पथिकों की हिंसा का पापकर्म उनसे चिपटा हुआ था । चम्पक-पुष्प का वर्ण गौर-पीत होता है, इसलिये वे दीपक ज्योति के समान प्रतीत होते थे । विचिन्वतीः—वि + √चि + शतृ (स्त्री० द्विती० बहुव०) । शम्बरारिः—कामदेव (श्लोक ५३ की व्याख्या देखिये) ॥८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं
परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये
तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥८७॥

अन्वय—असौ कुसुमेषुगर्भजं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं परागं पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत ।

अनुवाद—उसने कुसुम रूपी बाण के मध्य भाग में उत्पन्न हुई, वियोगियों को अन्धा बनाने वाली पुष्पधूलि, पहले कामदेव के द्वारा शिव पर छोड़े गये बाणों में लगी उसके (शिव के) शरीर की भस्म, मानो, समझी ।

मल्लि०—अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनाम्, (इति कर्मणि षष्ठी), अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणः, (आढ्यसुभगेत्यादिना च्व्यर्थे ख्युन् प्रत्ययः, अरुर्द्विषदित्यादिना मुमागमः), तं परागं पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं संसक्तं तस्य पुरारेरङ्गे यद्भस्म तद् इवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । (पुरा पुरारये ये मुक्ताः त एवैते पुरोवर्त्तिनः कुसुमेषव इत्यभिमानः, अन्यथैषां तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति) ।

टिप्पणी- इस श्लोक में पुष्पों के पराग में शिव के शरीर पर लगी भस्म की उत्प्रेक्षा की गई है ॥८७॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतै-
र्दशामुदञ्चत्करुणां वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं
ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः ॥८८॥

अन्वय--पिकाद् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिनां दशाम् उदञ्चत्करुणां वने शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं नलः दूनः ददर्श ।

अनुवाद—कोयल से भ्रमरों की (हुङ्कारों से की गई) वियोगियों की दशा को, जिसमें करुणा उत्पन्न हो रही थी इस प्रकार वन के सुनने पर अनिच्छा से पुष्परूपी हाथ को फैलाने वाली स्थलपद्मिनी को नल ने दुःखी होकर देखा ।

मल्लि०—पिकादिति । वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृताम्, दुखावस्थामित्यर्थः, उदञ्चत्करुणां विकसद्वृक्षविशेषमुद्यत्कृपञ्च यथा तथा शृण्वति सति, ('करुणास्तु रसे वृक्षे

कृपायां करुणा मता' इति विश्वः), अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सूनं प्रसूनमेव करं प्रसारयतीति प्रसारिणीं पुष्परूपहस्तविस्तारिणीम्, तथोक्तामनिष्टकथां करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः, (सूनकरेति प्रसारिणीमिति रूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम्), स्थलपद्मिनीं नलो दूनः परितप्तः सन्, (दूङः कर्त्तरि क्तः, ल्वादिभ्यश्चेति निष्ठानत्वम्) ददर्श ।

टिप्पणी—उदञ्चत्करुणम् (क्रियाविशेषण)—इसमें श्लेष है—(१) उदञ्चन्तः करुणास्तन्नामका वृक्षा यस्मिन् तत्तथा, अर्थात् जिसमें करुणा नामक वृक्ष खिल रहे थे । (२) उदञ्चती करुणा दया तस्मिन् तत्तथा, अर्थात् जिनमें दया उत्पन्न हो रही थी । इस प्रकार जब कोयल भ्रमरों की हुङ्कार से की गई वियोगियों की करुणाजनक दशा को कह रही थी तो स्थलकमलिनी उसे सुनना नहीं चाहती थी, इसलिये वह पुष्परूपी हाथ फैलाकर, मानो, कोयल को वैसा करने से रोक रही थी ॥८८॥

रसालसालः समदृश्यतामुना
स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने
जनाय दित्सन्निव तर्जनाभयम् ॥८९॥

अन्वय—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः, रसालसालः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभयं दित्सन्निव अदृश्यत ।

अनुवाद—इस (नल) से आम का वृक्ष उड़ते हुए भौरों की गुञ्जार ही जिसकी क्रोध की हुङ्कार थी, वायु से चञ्चल मञ्जरियों से विरही लोगों को, मानो तर्जना का भय देने की इच्छा करता हुआ देखा गया ।

मल्लि०—रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमरझङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य स समीरलोलैर्वायुचलैःमुकुलैः, अङ्गुलिभिरिति भावः, वियोगिने जनाय तर्जनाभयं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थितः (ददातेः सन प्रत्ययः, सनि मीमेत्यादिना इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः सस्यार्द्धधातुक इति सकारस्य तकारः), रसालसालश्चतवृक्षः

समदृश्यत सम्यग् दृष्टः । (द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्करः) ।

टिप्पणी—दित्सन्—दा+सन्+शतृ (पुं० एकव०) ॥८९॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं
पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान्
सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

अन्वय—'रे त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः च मूर्च्छ, मृत्युं च ऋच्छ' इति पान्थं शपत इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् स सखेदम् ऐक्षिष्ट ।

अनुवाद—'ऐ तू दिन-दिन अधिक दुर्बल हो बार-बार मूर्छित हो और मृत्यु को प्राप्त हो' इस प्रकार पथिक को, मानो, शाप देते हुए, लाल नेत्रों वाले पिक-पक्षियों को उसने खेद के साथ देखा ।

मल्लि०—दिने दिने इति । रे, इति हीनसम्बोधने, त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि अधिकं कृशो भव, (अस्तेर्लोट् सिप्, हुझल्भ्यो हेधिरिति धित्वम्, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति (एत्वम्) पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः शपमानानिव स्थितान्, (इत्युत्प्रेक्षा), लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन, एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र रोषाच्चेति द्रष्टव्यम्, पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नलः सखेदमैक्षिष्ट, स्वस्यापि उक्तशङ्कयेति भावः ।

टिप्पणी—एधि—√अस्+लोट् मध्यमपुरुष एकवचन । ऋच्छ=गच्छ । द्विजान्—(१) पक्षी. (२) ब्राह्मण । कोयल की आँखें स्वभाव से लाल होती हैं, क्रोध में भी आँखें लाल हो जाती हैं । इसलिये लाल आँखें होने के कारण कोयल में शाप देने की उत्प्रेक्षा की गई । ऐक्षिष्ट—√ईक्ष्+लुङ् ॥९०॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं
निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिना-
मुदीतमाशङ्कितवानशङ्कत ॥६१॥

अन्वय—अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आशङ्कितवान् स वियोगिनां विपदे उदीतं धूमकेतुम् अशङ्कत ।

अनुवाद—भ्रमरों की पङ्क्ति से युक्त उन्नत-शेखर चम्पकपुष्प को अधीर दृष्टि से देखकर आशङ्कायुक्त नल ने (उसे) वियोगियों की विपत्ति के लिये उदित धूमकेतु समझा ।

मल्लि०—अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपङ्क्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम्, अलिमलिनाङ्गमित्यर्थः, (शिखास्वापीडशेखरवित्यमरः), चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलम्, ('अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः) । नन्वयुक्तमिदम्, 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रत्' इत्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेत्, नैवं किन्तु स्पृष्टेयन्तावतैवास्पर्शोक्तिः क्वचित् केषाञ्चित् उक्तिपरिहारः) अथवा चाम्पेयं नागकेसरम्, ('चाम्पेयः केसरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः' इत्यमरः), अधीरया दृशा निपीय विक्लवदृष्ट्या गाढं दृष्ट्वा अशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् स नलः, (अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः इति लक्षणात्), वियोगिनां विपदे उदीतमुत्थितं धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदिति । (उत्प्रेक्षालङ्कारः) ।

टिप्पणी—धूमकेतु तारे को विपत्ति का कारण समझा जाता है । भ्रमरों से युक्त चम्पक-पुष्प भी विरहियों के लिये उद्दीपक होने के कारण विपत्ति का कारण था, इसलिये नल ने उसे धूमकेतु समझा । चाम्पेयम्—चम्पक-पुष्प अथवा नागकेसर । चम्पा-पुष्प के लिए प्रसिद्ध है कि उस पर भ्रमर नहीं बैठते हैं, इसलिये मल्लिनाथ ने चाम्पेय का अर्थ नागकेसर किया है । उदीतम्—उद्+ई (दिवादि०)+क्त ॥६१॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत्
प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खल-
ज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥९२॥

अन्वय—स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ।

अनुवाद—उस (नल) ने चक्कर खाकर गिरता हुआ नागकेसर, जिससे पराग गिर रहा था तथा जिसमें भ्रमर पङ्क्तियाँ लीन थीं, मानो, शाण देखा, जिससे कामदेव के बाणों की रगड़ से जलते हुए कण गिर रहे थे ।

मल्लि०—गलादिति । स नलो गलत्परागं निर्यद्रजस्कं भ्रमिभङ्गिभिः भ्रमणप्रकारैरुपलक्षितं पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुल नागकेसरं कुसुमविशेषं मारनाराचनिघर्षणैः स्मरशरकर्षणैः स्खलन्तः लुठन्तः ज्वलन्तश्च कणाः स्फुलिङ्गा यस्य तं शाणं निकषोत्पलमिव, (इत्युत्प्रेक्षा), व्यलोकयत् । ('शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः) ।

टिप्पणी—नागकेसर का पुष्प भौंरों के बैठने के कारण काला दिखलाई देता था और उसमें से पीला पराग गिर रहा था । इसलिए नागकेसर में उत्प्रेक्षा की गई है कि वह मानो, (काला) शाण था जिससे कामदेव के बाणों की रगड़ से जलते हुए (पीले) कण निकल रहे थे ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः
शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्
स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥९३॥

अन्वय—सुगन्धि तदङ्गमुद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः ।

अनुवाद—शोभन गन्ध वाले उसके (नल के) शरीर को लक्ष्य करके गुणों का स्पर्श करने वाली (सुगन्ध आदि गुणों की लोभी), पुष्प से गिरने वाली, गुञ्जार करती हुई भ्रमरों की पङ्क्तियों को देखकर कामदेव अपने धनुष से लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाणों के भ्रम से लज्जित हुआ।

मल्लि०—तदङ्गमिति। सुगन्धि शोभनगन्धम्, (गन्धस्येत्यादिना समासान्त इकारः), तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणो गन्धादिः मौर्वी च, (गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुष्विति वैजयन्ती), तत्स्पृशस्तद्युक्ताः, (स्पृशोऽनुदके क्विन्), कुसुमादपादानात् पातुका धावन्तीः, (लपपतेत्यादिना उकञ्प्रत्ययः), स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपङ्क्तीः बाणपङ्क्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गताः विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् नूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्याधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धेः। (अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः)।

टिप्पणी—यहाँ 'शिलीमुखालीः' और गुणस्पृशः' में श्लेष है। शिलीमुखालीः—(१) भ्रमरों की पंक्तियां, (२ बाणों की पंक्तियां। गुणस्पृशः—(१) सुगन्ध आदि गुणों की लोभी, (२) धनुष की डोरी को छूने वाली। भ्रमरों की पंक्तियां पुष्पों को छोड़कर नल के सुगन्धित शरीर की ओर गुञ्जार करती हुई उड़ रही थीं, इससे कामदेव को यह भ्रम हो गया कि उसकी धनुष की डोरी को छूने वाले बाणों की पंक्तियां (शिलामुखाली) लक्ष्य भ्रष्ट होकर गूँज रही हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि लक्ष्यभ्रष्ट बाण अधिक ध्वनि करते हैं। इसलिये कामदेव लज्जित हुआ ॥९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं
समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं
ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥९४॥

अन्वय—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वार-नारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफल ददर्श ।

अनुवाद—उसने वायु से हिलते हुए पल्लवों के कांटो से क्षत हुआ, और जिसकी चन्दन के समान उत्कृष्ट गन्ध फैल रही थी तथा जो वेश्या के स्तन की समानता कर रहा था, पका हुआ बेल का फल देखा ।

मल्लि०—मरुदिति । मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतम्, अन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसर्पत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत्, अतएव, वारनारी-कुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यम्, (इत्युपमालङ्कारः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । कुलाङ्गनानखक्षताद्यनौचित्याद्वारविशेषणम्) पचेलिमं स्वतः पक्वम्, (कर्मकर्त्तरि केलिमर उपसंख्यानमिति पचेः केलिमर् प्रत्ययः), मालूरफलं बिल्वफलम्, (बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्री-फलावपीत्यमरः), स नलो ददर्श ।

टिप्पणी—पचेलिमम्—√पच्+केलिमर् (एलिम), 'अपने आप पका' इस अर्थ में 'क्त' की जगह 'केलिमर्' प्रत्यय जुड़ा है ।९४।।

युवद्वयोचित्तनिमज्जनोचित-
प्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया
स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ।।९५।।

अन्वय—स युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरं पाटलायाः स्तबकं भियान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः ।

अनुवाद—वह (नल) युवक और युवती दोनों के चित्त को डुबाने में समर्थ पुष्पों से पूर्ण मध्यभाग रूपी कुहर वाले पाटला (पाडर) के गुच्छे को भय के कारण मूढ मति से कामदेव का तूणीर समझकर कांप गया ।

मल्लि०—युवेति । युवा च युवतिश्च तयोर्यूनोर्द्वयी मिथुनं तस्या-स्तयोः कर्मणोर्निमज्जने, ण्यन्ताल्लुट्) उचितैः क्षमैः प्रसूनैः पुष्पबाणैः

शून्येतरदशून्यं पूर्णं गर्भगह्वरं गर्भकुहरं यस्य तत् पाठलायाः पाटलवृक्षस्य स्तबकं कुसुमगुच्छं भियान्धया भयमूढया धिया भयन्जभ्रान्त्येत्यर्थः, स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य, तथा विभ्रम्य इत्यर्थः, अतएव भयात् प्रकम्पितश्चकम्पे। (अत्र 'पाटलस्तबके मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कारः, 'कविसमतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि। आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः, इति लक्षणात्)।

टिप्पणी—स्मरेषुधीकृत्य—स्मरस्य इषुधिः, स्मरेषुधिः, न स्मरेषुधिं कृत्वा इति स्मरेषुधीकृत्य, अर्थात् जो स्मरेषुधि नहीं है उसे स्मरेषुधि समझ कर, स्मरेषुधि + च्वि + √कृ + ल्यप्। प्रकम्पितः— प्र+√कम्प्+क्त (कर्तरि) ॥९५॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युति-
र्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं
कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥९६॥

अन्वय—अमुना वने कोरकितः शितिद्युति मुनिद्रुमः तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यत किल।

अनुवाद—उसने (नल ने) वन में कलियाँ लगे हुए, कृष्ण छवि वाले अगस्त्य नामक वृक्ष को कृष्ण पक्ष में क्षय के व्याज खाये हुए चन्द्रमा की कलाओं के समूह को उगलता हुआ राहु समझा।

मल्लि०—मुनीति। अमुना नलेन वने कोरकितः सञ्जातकोरकः शितिद्युतिः पत्रेषु कृष्णच्छविः मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्षः तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम्, अभक्षितत्वे कुतः क्षय इति भावः, (अत्र कूटशब्देन क्षयापह्नवेन भक्षणारोपादपह्नवभेदः), वैधवं चन्द्रसम्बन्धि, (विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरित्यमरः), कलाकलापं कलासमूहं वमन्नुद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल खलु ? (अत्र कोरकितशितद्युतित्वाभ्यां मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्करः)।

टिप्पणी—मुनिद्रुमः—अगस्त्यवृक्ष। यहाँ कृष्णवर्ण अगस्त्यवृक्ष को राहु और उसकी धवल कलियों को चन्द्रमा की कलाओं के समान बताया गया है ॥६६॥

पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डर-
च्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः।
मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिताः
नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥६७॥

अन्वय—पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि बद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः तं मिलन्निमीलं विदधुः।

अनुवाद—संमुख वायु के, जिसने हठात् तुषार से धवल पत्रों का आवरण हटा दिया था, लता में किये गये भ्रमणों ने तथा पुष्पों के प्रति की गई क्रिडाओं ने देखी जाकर उस (नल) की आंखे बन्द कर दीं।

मल्लिनाथ—पुर इति। पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणां छदानां पत्राणां तुषारवत् पाण्डरस्यच्छदस्याच्छादकस्य वस्त्रस्य चावृतिरावरणं येन तस्य नभस्वतो वायोः वीरुधि लतायां बद्धाः अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च यासान्ताः कुसुमेषु विषये केलयः क्रीडाः कुसुमेषुकेलयः कामक्रीडाश्च विलोकिताः सत्यस्तं नृपं नलं मिलन्निमीलो मिलनं यस्य तं विदधुः, निमीलिताक्षञ्चक्रुरित्यर्थः, (विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात्, अन्यत्र 'नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संस्पृष्टमैथुनामिति' निषेधादिति भावः। अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः)।

टिप्पणी—इस श्लोक में समासोक्ति द्वारा अप्रस्तुत कामुकव्यवहार की भी प्रतीति होती है। राजा नल ने वायु के लता के साथ किये गये विलास और कुसुम के साथ की गई क्रीडा को देखकर आँखें बन्द कर लीं, क्योंकि विरही के लिये वह उद्दीपक थीं। 'कुसुमेषु केलयः' में सभङ्ग श्लेष है। 'कुसुमेषु केलयः' और 'कुसुमेषोः कामदेवस्य केलय इति कुसुमेषुकेलयः ॥६७॥

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां
द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः
स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥९८॥

अन्वय—द्रुमाः यदुत्सङ्गतले विशालतां गताः तां धात्रीं फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथं न अभिनन्दति स्म ।

अनुवाद—वृक्ष जिस (भूमि) की गोद में विशालता को प्राप्त हुए, उस पृथ्वी की फलों के भार से अत्यन्त झुकाये हुए सिरों से वन्दना करते हुए उन (वृक्षों) का वह (नल) क्यों न अभिनन्दन करता ?

मल्लि०—गता इति । द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः, तां धात्रीं भुवञ्च उपमातरं वा, (धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृष्विति विश्वः । 'धः कर्मणि ष्ट्रन् इति' दधातेः ष्ट्रन् प्रत्ययः), फलगौरवेण फलभरेण सुकृतातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः प्रह्वीकृतैः, (नमेर्मित्वविकल्पाद्ध्रस्वाभावः): शिरोभिरग्रैः उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृशतोऽभिवादयमानांश्च तान् प्रकृतान् द्रुमान्, (अतएव यच्छब्दानपेक्षा), स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिननन्दैवेत्यर्थः । वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिं अपत्यानां च मातृभक्तिञ्च को नाम नाभिनन्दतीति भावः। (अत्रापि विशेषणसामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी समासोक्ति द्वारा पुत्र-व्यवहार की प्रतीति होती है । जिस प्रकार पुत्र बड़ा होकर धात्री का आदर करता है वैसे ही वृक्ष भी बड़े होकर फलभार से झुके हुए सिरों से पृथ्वी की वन्दना कर रहे थे । राजा वृक्षों की इस भक्ति को देखकर प्रसन्न हुआ, क्योंकि पुत्र भक्ति को देखकर प्रत्येक को प्रसन्नता होती है । नामितैः—√नम्+णिच्+क्त ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः
सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः ।

विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं
वियोगिनेऽदत्त न कौमुदी मुदः ॥९९॥

अन्वय—वनानिलैः हिमितं पुष्परसैः सुधीकृतं केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितम् अहर्महः कौमुदी तस्मै वियोगिने नृपाय मुदः न अदत्त ।

अनुवाद—वन की वायु से शीतल, पुष्पों के मकरन्द से अमृत बनाया हुआ, केतक-पुष्पों की धूलि से धवल, दिन के तेज (आतप) के रूप में चन्द्रिका ने उस विरही राजा (नल) को आनन्द न दिया ।

मल्लि०—अत्रातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति । नृपायेति । वनानिलैः उद्यानवातैः हिमं शीतलं कृतं हिमितम्, (तत्करोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः), पुष्परसैर्वनवातानीतैः मकरन्दैः सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतकरेणुभिः सितं विनिर्मितं शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेजः अहर्मह आतपः, (रोः सुपीति रेफादेशः), तदेव कौमुदी, (इति व्यस्तरूपकम्) वियोगिने तस्मै नृपाय मुदः प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपकंवाभूदिति भावः ।

टिप्पणी—अहर्महः—अह्नः दिनस्य महः तेजः, आतप । वन की शीतल वायु, पुष्पमकरन्द तथा केतक पुष्पों के कारण धूप चन्द्रिका के समान सुखदायक थी, लेकिन विरहातुर नल को, उद्दीपक होने के कारण, वह भी आनन्द प्रदान न कर सकी । अदत्त—पाठान्तर 'अधत्त' ॥९९॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता
तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः
कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥१००॥

अन्वय—वियोगभाजोऽपि नृपस्य तद् आननं साक्षाद् अमृतांशुमेव पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन मुहुः कुहूरुता चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

अनुवाद—विरहातुर नृप के उस मुख को प्रत्यक्ष चन्द्रमा ही समझने

वाले, क्रोध से लाल आँखों वाले कोकिल ने बार-बार 'कुहू कुहू' की ध्वनि से चन्द्र की शत्रु (अमावस्या) बुलाई।

मल्लि०—वियोगेति। वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशुं प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अतएव रोषादद्यापि चन्द्रतां न जहातीति क्रोधादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूर्निजालाप एव कुहूर्नष्टचन्द्रामावस्या, (इति श्लिष्टरूपकम्), ('कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इति विश्वः), मुहुराहूयत आहूता किम्, (इत्युत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति सङ्करः। अस्य चन्द्रस्येयमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिराहित्यसम्भवादिति भावः)।

टिप्पणी—'कुहूरुता'—कोयल की बोली का अनुकरणात्मक शब्द 'कुहू' है, कुहू अमावस्या को भी कहते हैं। इसलिये उत्प्रेक्षा की गई है कि कोयल अपनी 'कुहू-कुहू' की आवाज से मानो, अमावस्या को बुला रही थी, जिसमें चन्द्रमा नहीं उगता है। 'कुहूरुताऽऽहूयत' में सभङ्ग श्लेष है—(१) कुहूरुता आहूयत, (२) कुहूः (अमावस्या) उत आहूयत ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया
गताञ्छरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान्।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः
प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥१०१॥

अन्वय—एष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थान्वितनामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनो अध्वगान् अवन्तमिव अमन्यत।

अनुवाद—इस (नल) ने अशोक नामक वृक्ष को, जिसने नूतन पत्रों से कामदेव के जलते हुए अस्त्र-समूह को (अपने ऊपर) लिया हुआ था, अर्थानुसारी नाम वाला होने की आशा से शरण में आये हुए; पत्नी की चिन्ता करने वाले पथिकों की, मानो, रक्षा करता हुआ समझा।

मल्लि०—अशोकमिति। एष नलः पल्लवैः प्रतीष्टानि प्रतिगृहीतानि

संछन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि तद्रूपकाणि जालकानि क्षारकाणि बालमुकुल-गुच्छा येन तम्, पल्लवसञ्छन्नकुसुमरूपकामास्त्रमित्यर्थः, (अन्यथा तद्दर्शनादेव ते म्रियेरन्निति भावः), अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्नत्यन्वर्थ-संज्ञा तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणे रक्षणे साधुं समर्थं शरण्यम्, (मत्वेति शेषः। 'शरण रक्षणे गृहे' इति विश्वः। तत्र साधुरिति यत्प्रत्ययः), आगतान् शरणागतानित्यर्थः, गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनः गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यर्थः, ('गृहः पत्न्यां गृहे स्मृतः' इति विश्वः), अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव (शरणागतरक्षणे महाफलस्मरणादन्यथा महा-दोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थः) अमन्यत ज्ञातवान्। अस्त्रभीरूणां तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भावः।

टिप्पणी—प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् (विशेषण)— इस पद के कई अर्थ हो सकते हैं। ऊपर अनुवाद में इसका अर्थ किया गया है—पल्लवों द्वारा अपने ऊपर ले लिया है कामदेव के जलते हुए अस्त्र-समूह को जिसने, अर्थात् अशोक वृक्ष ने कामदेव के अस्त्रों के प्रहार को पथिकों पर नहीं होने दिया प्रत्युत शरणागतवत्सल ने उसे अपने शरीर पर ओट लिया, इसीलिये उसके पल्लव लाल हो गये। (२) मल्लिनाथ ने प्रतीष्ट का अर्थ 'ढका हुआ' किया है और अस्त्र-जालक में रूपक माना है। उसके अनुसार इसका यह अर्थ होगा—पल्लवों से ढक लिये हैं कामदेव के जलते हुए अस्त्र-रूपी जालक (पुष्प-गुच्छक) जिसने, अर्थात् पुष्प-गुच्छक ही कामदेव के जलते हुए अस्त्र थे, उनको छिपाने मात्र से अशोक वृक्ष पथिकों की रक्षा कर रहा था ॥१०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात्
पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात्।
वनेऽपि तौर्य्यत्रिकमाराराध तं
क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥१०२॥

अन्वय—विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्य लाघवात् तौर्यत्रिकं वनेऽपि तम् आरराध। भाग्यभाग् जनः क्व भोगं न आप्नोति।

अनुवाद—क्रीडा-वापि के तट पर तरङ्गों के बजने, कोयल तथा भ्रमरों के गाने और मयूरों का नृत्य की निपुणता से तौर्यत्रिक (तीन प्रकार का तौर्य —वाद्य, गीत और नृत्य वन में भी) उसकी सेवा कर रहा था। भाग्यशाली लोग कहाँ भोग नहीं प्राप्त कर लेते हैं ?

मल्लि०—विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतेर्गानात् शिखिनां मयूराणां लास्यलाघवात् नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नलं तौर्य्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्तृ आरराध आराधयामास । तथा हि भाग्यभाग् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगः सुखं तं नाप्नोति, सर्व्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः । (सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तर-न्यासः) ॥१०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने
शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजुगश्च शारिका-
स्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥१०३॥

अन्वय—जनेन तदर्थमध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन् । तथैव च तत्पौरुषगायनीकृताः शारिकाः स्वरामृतेन उपजगुः ।

अनुवाद—लोगों द्वारा नल के लिये पढ़ाकर उस वन में छोड़े गये चतुर शुकों ने उसकी स्तुति की, और उसी प्रकार उस (नल) के पराक्रम का गायक करने वाली मैनाओं ने अमृत के तुल्य (मधुर) स्वर से (उसका) गान किया ।

मल्लि०—तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ताः विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्, तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृता गायनीकृताः शारिकाः शुकवध्वः स्वरामृतेन, मधुरस्वरेणेत्यर्थः, उपजगुश्च ।

टिप्पणी—अध्याप्य—अधि + √इ + णिच् + ल्यप् ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं
पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं
विदर्भसुभ्रू विरहेण नान्तरम् ।।१०४।।

अन्वय -- इति इष्टगन्धाढ्यं वनम् अटन् पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च असौ बहिश्चरम् आमोदभरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रू विरहेण आन्तरं न ।

अनुवाद—इस प्रकार सुगन्ध-सम्पन्न वन में घूमते हुए, कोयलों से गान किये गये और शुकों से स्तुति किये गये भी इसने बाहरी गन्ध की अतिमात्रा ही प्राप्त की. विदर्भदेश की सुन्दर भौं वाली (दमयन्ती) के विरह के कारण आन्तरिक (हार्दिक) आनन्द का अतिरेक प्राप्त न किया ।

मल्लि०—इतीति । इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यम् इष्टसौगन्धसम्पन्नं वनमटन्, ('देशकालाध्वगन्तव्याः कर्म्मसंज्ञा ह्यकर्म्मणामिति' वनस्य देशत्वात् कर्म्मत्वम्), असौ नलः पिकैः कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकैः स्तुतोऽपि च परं केवलम्, (परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूतोऽपि केवल इति विश्वः), बहिरामोदभरं सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दतविदर्भसुभ्रू विरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपन्नाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भावः । (आमोदो गन्धहर्षयोरिति विश्वः) ।

टिप्पणी—बहिश्चरम्—बाह्य, ऊपरी, आन्तरिक का विरोधी । पाठान्तर 'बहिः परम्' भी पाया जाता है । मल्लिनाथ ने 'बहिः परम्' पाठ मानकर ही इस श्लोक की व्याख्या की है । इस पाठ के अनुसार तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार होगा—इसने केवल (परम्) बाहर गन्ध की अधिकता प्राप्त की । आमोदभरम्—इस पद के दो अर्थ हैं—(१) गन्ध की अधिकता । (२) हर्ष की अधिकता ।।१०४।।

करेण मीनं निजकेतनं दधद्
द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।

व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं
स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥१०५॥

अन्वय—स निजकेतनं मीनं द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधद् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मरः इव व्यतर्कि ।

अनुवाद—वह (नल), अपने ध्वजचिह्न मकर को वृक्षों के थाँवलों के जल में प्रवेश के भय से हाथ में धारण करता हुआ, सब ऋतुओं से व्याप्त इस वन में (अपने) मित्र वसन्त (ऋतु) को खोजता हुआ, मानो कामदेव समझा गया ।

मल्लि०—करेणेति । स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत्, तादृक्शुभरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तवसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि, इत्युत्प्रेक्षा ।

टिप्पणी—मीनं करेण दधत्—राजा नल के हाथ में मकर रेखा का चिह्न था, जो कि चक्रवर्ती-होने का लक्षण समझा जाता है । दैवत-कथा में कामदेव का ध्वजचिह्न भी मकर कहा जाता है । इसलिये उत्प्रेक्षा की गई है कि नल, मानो कामदेव था जिसने अपने ध्वजचिह्न मकर को इस डर से कि कहीं वह वृक्षों के थाँवलों के पानी में न घुस जाय, हाथ में पकड़ रक्खा था और जो उस वन में, जिसमें सब ऋतुएँ एक साथ एकत्रित थीं, अपने मित्र वसन्त ऋतु को खोजने आया था । व्यतर्कि–वि+तर्क्+लुङ् (कर्मवा० प्र० पु० एकव०) । दधत्—√धा+शतृ (पुंल्लिङ्ग प्रथमा एकव०) ॥१०५॥

लताबलालास्यकलागुरुस्तरु-
प्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि
प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥१०६॥

अन्वय – लतावलालास्यकलागुरुः तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानिलः अमुम् असेवत ।

अनुवाद—लतारूपी अबलाओं का मधुरनृत्य-कला में गुरु, वृक्षों के पुष्पों की गन्ध-सम्पत्ति का चोर और मकरन्द रूपी गन्धयुक्त जल में जल-क्रीडा करने वाला वन-पवन उसकी सेवा कर रहा था ।

मल्लि०—लतेति । लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टा, इति मान्द्योक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्त्तेत्यर्थः, ('पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः । पचाद्यच्, 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्विति' वक्तव्यादलुक्), सौरभ्यमुक्तम्, मधु मकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः, एतेन कृतलीलावगाहन इति शैत्योक्तिः, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत । गुणवान् सेवकः सेव्यप्रियो भवतीति भावः ।

टिप्पणी—पश्यतोहरः—लुटेरा, देखते देखते का हरने वाला, यहाँ समास होने पर भी पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं हुआ है ॥१०६॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थना-
च्चिररत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधि-
र्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

अन्वय—अथ अवनीभुजा तडागः मन्थनाद् भयेन चिरात् उच्चितं चिररत्नरत्नाधिकं स्वम् आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपांनिधिः ददृशे ।

अनुवाद—इसके बाद राजा ने तालाब, मानो, मन्थन के भय से चिरकाल में संचित, प्राचिन श्रेष्ठ वस्तुओं की अधिकता वाले धन को लेकर उस वन में छिपकर रहता हुआ समुद्र, देखा ।

मल्लि०—अथेति । अथ वनालोकनानन्तर मन्थनाद्भयेन, धनार्थं पुनर्मं-

थिष्यतीति भयादित्यर्थः. चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनम्, ('चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः' इति त्नप्रत्ययः) तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तुभूयिष्ठ चेति चिरत्नरत्नाधिकम्, (रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपीत्यमरः) स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीयान्तर्धाय निवसन् वर्त्तमानोऽपाम्निधिरिव, इत्युत्प्रेक्षा), तडागः सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा नलेन ददृशे दृष्टः ।

टिप्पणी—यहाँ वन में स्थित तडाग में समुद्र की उत्प्रेक्षा की गई है । ददृशे—√दृश्+लिट् (कर्मवाच्य) ॥१०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावली-
रदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो
मृणालजालस्य निभाद्बभार यः ॥१०८॥

अन्वय—यः जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदान् बभार ।

अनुवाद—जो (तलाब) जल में आधे छिपे हुये, तटवर्ती भूमि को भेदने वाले मृणाल के समूह के व्याज से शेषनाग की पूँछ के समान कान्ति वाले, जल में छिपे हुए ऐरावत हाथियों की पंक्ति के दाँतों को धारण कर रहा था ।

मल्लि०—यदुक्तं धनमादायेति, तदेवात्र, सम्पादयति नवभिः श्लोकैः—पय इत्यादिभिः । यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूभिदस्तटप्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजात्, (इत्यपह्नवालङ्कारः । 'निभो व्याजसदृक्षयोरिति' विश्वः), अनन्तोरगस्य शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान्, तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकामुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार । (तत्रैक एवैरावतः अत्र त्वसख्या इति व्यतिरेकः । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत् 'न लोका' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् । लषपतेत्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ।

टिप्पणी—वन में स्थित तडाग का नौ श्लोकों में वर्णन किया गया है। पहले श्लोक में तडाग को समुद्र बतलाया गया है। उसी का विस्तार में वर्णन इस और आगे के श्लोकों में किया गया है। यह तालाब मृणाल-समूह के व्याज से अनेक ऐरावतों के दाँतों को धारण कर रहा था। समुद्र में केवल एक ऐरावत हाथी के दाँत थे, लेकिन इसमें मृणाल के रूप में सैकड़ों ऐरावतों के दाँत थे। इस प्रकार यह तालाब समुद्र से भी बढ़कर था। अभ्रमुकामुक—ऐरावत गज, दैवतकथा के अनुसार ऐरावत की पत्नी का नाम अभ्रमु है और ऐरावत का वर्ण धवल माना जाता है ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा-
स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः,
सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

अन्वय—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रम् इव श्रयन् बभौ।

अनुवाद—जो (तलाव) तट के समीप में ठहरे हुये घोड़ों के समूह के स्पष्ट प्रतिबिम्ब के आविर्भाव के चुम्बन (सम्पर्क) से तरङ्ग रूपी कशा के छोर के ताडन से चञ्चल, सहस्र उच्चैःश्रवस् नामक घोड़ों को, मानो, धारण करता हुआ शोभित हो रहा था।

मल्लि०—तटान्तेति। यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्या स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावव्याप्त्या निमित्तेन वीचय एव कशास्तासाम् अन्तशातनैरग्रताडनैः, (अश्वादेस्ताडनी कशेत्यमरः), चलदुल्ललदुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभौ, (इत्युत्प्रेक्षा व्यतिरेकश्च पूर्ववत्। एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः)।

टिप्पणी—तडाग के तट पर राजा नल के घोड़े विश्राम कर रहे थे, उनका

प्रतिविम्ब जल में पड़ रहा था। इससे प्रतीत होता था, मानो सहस्रों उच्चैः-श्रवस् नाम के घोड़े उस तालाव में थे, जबकि समुद्र में से केवल एक ही उच्चैः-श्रवस् निकला था। इससे यह भी ध्वनित होता है कि नल के घोड़े उच्चैः श्रवस् के तुल्य थे ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छला-
द्बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं,
कुलं सुधांशोर्वहुलं वहन् वहु ॥११०॥

अन्वय—यः अलिश्यामलितोदरश्रियां सिताम्बुजानां निवहस्य छलात् तमः-समच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं बहुसुधांशोः कुलं वहन् बभौ।

अनुवाद—जो (तालाब) भ्रमरों से श्यामल मध्यभाग की शोभा वाले धवल कमलों के समूह के व्याज से अन्धकार के समान कान्ति वाले कलङ्क से व्याप्त, पूर्ण चन्द्रमा के महान् समूह को धारण करता हुआ शोभित हो रहा था।

मल्लि०—सितेति। यस्तडागः अलिभिः श्यामलितोदरश्रियां श्यामीकृत-मध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य छलात तम.समच्छायः तिमिरवर्णः यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहुलं संपूर्णं बह्वनेकं सुधांशोश्चन्द्रस्य कुलं वशं बहन् सन् बभौ। (तत्र छलशब्देन पुण्डरीकेषु ।वपयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः व्यतिरेकस्तु पूर्ववत्)।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी तालाब में श्वेत कमलों के व्याज से अनेक चन्द्रमाओं का होना बतलाकर उसे समुद्र से बढ़कर कहा गया है ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा
शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवा-
न्मृणालशेषाहिभुवान्वयायि यः ॥१११॥

अन्वय—यः सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवात् रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाहिभुवा शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

अनुवाद—जो (तालाब) कमलिनी के गुच्छों के समूह के व्याज से चक्रधारी, कमला से युक्त, भ्रमर-समूह के सदृश (वर्ण वाले), मृणाल जैसे शेषनाग पर स्थित विष्णु से अनुगत था ।

मल्लि०—रथाङ्गेति । यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकः चक्रायुधञ्च, (यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो रूढः, तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्द-पर्य्यायित्वप्रयोगदर्शनात् पदस्याप्युभयत्र प्रयोगं मन्यते कविः), तद्भाजा, (भजो ण्विः), कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा संसर्गवता शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुल-सहचरेण, अन्यत्र सखिशब्दः सादृश्यवचनः तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणालं शेषाहिरिव, (इत्युपमितसमासः), तद्भुवा तदाकरेण, अन्यत्र मृणालमिव शेषाहिः तद्भुवा तदाधारेण, शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, (अप्रकाण्डे स्तम्ब-गुल्मामित्यमरः), तेषां कदम्बस्य कैतवान्मिषात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृतोऽधि-ष्ठित इति यावत् । (अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारोपादप-ह्नवभेदः) ।

टिप्पणी—यहाँ शब्दसाम्य पर आधारित सादृश्य के कारण कैतव शब्द से सरोजिनीस्तम्बकदम्ब को छिपाकर शार्ङ्गी का आरोप किया गया है । तालाब में विष्णु की स्थिति के कथन से उसका समुद्र होना भी कह दिया गया है । रथाङ्गभाजा—(१) चक्र को धारण करने वाला, (२) चक्रवाक नामक पक्षियों से युक्त; रथाङ्ग + √भज् + ण्वि । कमलानुषङ्गिणा—(१) कमला (लक्ष्मी) के सहचर, (२) कमलों से युक्त । शिलीमुखस्तोमसखेन—(१) भ्रमर-समूह के सदृश (वर्ण वाला), (२) भ्रमर-समूह का सखा; क्योंकि सरोजिनीस्तम्ब पर भ्रमर मण्डराते हैं, इसलिये उसे भ्रमरों का सखा कहा गया है । मृणालशेषा-हिभुवा—(१) मृणाल के सदृश (वर्ण वाला) शेषनाग पर रहने वाला, (२) शेषनाग सदृश मृणाल पर उगने वाला । अन्वयायि—अनु + √या + लुङ् (कर्मवाच्य) अन्यपु० एकव० ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभा-

स्तरङ्गरेखा बिभराम्बभूव यः ।

दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकै-

र्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥११२॥

अन्वय—यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव । यः च दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः (आसीत्) ।

अनुवाद—जो (तालाब) अङ्कवर्तिनी तरङ्गों को, मानो, अपनी पत्नी नदियों को धारण कर रहा था, और जो कुछ खिली हुई लाल कमलों की कलियों के रूप में प्रवालों (मूंगों) के अङ्कुर-समूह को धारण कर रहा था ।

मल्लि०—तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजीरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीः, (इति व्यस्तरूपकम्), बिभराम्बभूव बभार (भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चेति भृञो विकल्पाद् आम् प्रत्यय.) । किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलषण्डकलिकाभिः धृतप्रवालङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । (अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः) ।

टिप्पणी—यहाँ भी तरङ्गों में नदियों तथा कोकनद-कोरक में प्रवालाङ्कुर के आरोप से तालाब का समुद्र होना कहा गया है । बिभराम्बभूव—√भृ+आम्+भू (अनुप्रयोग) +लिट् ॥११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य य-

श्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।

नलेन मेने सलिले निलीनयो-

स्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥११३॥

अन्वय—यः नलेन महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधुकालकूटयोः त्विषं विमुञ्चन् मेने ।

अनुवाद—जिस (तालाब) को नल ने बड़े श्वेत और नील कमलों के समूह के व्याज से जल में छिपे हुए चन्द्रमा और कालकूट की कान्ति को प्रकट करता हुआ जाना।

मल्लि०—महीयस इति। यस्तडागः महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयोः विधु-कालकूटयोः, सितासितयोरिति भावः त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने। (अत्र छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा)।

टिप्पणी—यहाँ श्वेत और नील कमलों का 'छल' शब्द से अपह्नव करके उनमें चन्द्रमा और कालकूट का आरोप किया गया है। तालाब में चन्द्रमा और कालकूट के वर्णन से उसका समुद्र होना कहा गया है। मेने- √मन् + लिट् (कर्मवा०) ॥११३॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणै-
रबालशैवाललतापरम्पराः।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडव-
स्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥११४॥

अन्वय—यत्र तरङ्गरिङ्गणैः चलीकृताः अबालशैवाललतापरम्पराः वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमतां दधुः ध्रुवम्।

अनुवाद—जिस (तालाब) में तरङ्गों के कम्पनों से चञ्चल की गईं, बड़ी सिवार की पङ्क्तियां वडवानल के नीचे रहने के कारण चढ़ती हुई अधिकता वाली धूम दशा को, मानो, धारण कर रही थीं।

मल्लि०—चलीकृता इति। यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनैश्चलीकृताः चञ्चलीकृताः अबालानां कठोराणां शैवाललतानां परम्पराः पङ्क्तयः हव्यं वहतीति हव्यवाडग्निः, (वहश्चेति ण्विप्रत्ययः। तस्य छन्दोमात्रविषयत्वात् अनादरेण भाषायां प्रयोगः), वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरवस्थित्यान्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहिःप्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च ते धूमाश्च तेषां भावस्तत्ता तां दधुः वह्नेरुत्थितधूमपटलवद् बभुरित्यर्थः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्।

टिप्पणी—यहाँ सिवार-पंक्ति में धूमराशि की उत्प्रेक्षा की गई है। इस प्रकार तालाब में वाडवाग्नि का होना वर्णन करने से उसे समुद्र के समान कहा गया है। चलीकृता:—अचला: चला:, कृता:, √चल्+च्वि+क्त। हव्यवाड्—अग्नि, हव्य को ले जाने वाला; 'हव्यवाड' वैदिक प्रयोग है, हव्य+√वह्+ण्वि। ११४॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः
करम्बितामोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा
सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥११५॥

अन्वय—आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामं करम्बिता आमोदभरं विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहार्वगृहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता।

अनुवाद—सूर्य को प्राप्त करके काँटों से अत्यन्त दन्तुरित, गन्धराशि को प्रकट करती हुई दिन में खिले हुए कमलों को शरीर पर धारण किये हुए, जिस (तालाब) में उत्पन्न कमलिनी, (आदित्य [अदिति-पुत्र, इन्द्र] को पाकर पुलकों से युक्त, हर्ष की अधिकता को प्रकट करती हुई, स्वर्ग में स्पष्ट रूप से शोभा के आस्पद शरीर को धारण की हुई) अप्सरा के समान प्रतीत होती थी।

मल्लि०—प्रकाममिति। आदित्यं सूर्य्यमवाप्य प्रकामं कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैरवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता, अतएवामोदभरं परिमलसम्पदमानन्दसम्पदं च विवृण्वती प्रकटयन्ती, दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूप यस्याः सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पदं विग्रहो देहो यस्याः सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः, यस्तडागः प्रभवः कारणं यस्याः सा तज्जन्या सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सरा इवाचरिता, ('उपमानात्कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चेति' कर्त्तरि क्तः, 'अजोसोऽप्सरसोः' इत्यप्सरसः सकारलोपः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा)।

टिप्पणी—यहाँ श्लेष की सहायता से शब्दसाम्य से उत्थापित सादृश्य के कारण कमलिनी को अप्सरा के समान कहा गया है। समुद्रमन्थन के समय रत्नों के साथ अप्सरायें भी समुद्र से उत्पन्न हुई थीं; उस तालाब से भी सरोजिनी के रूप में अप्सरा उत्पन्न हुई थी, इसलिये वह तालाब भी समुद्र ही था। श्लिष्ट शब्दों के दूसरे अर्थ अनुवाद में ही दे दिये हैं। अप्सरायिता—अप्सरा इव आचरतीति अप्सरायत, अप्सरस्+क्यङ् (नामधातु), कर्तृवाच्य में क्त प्रत्यय होने पर स्त्रीलिङ्ग में अप्सरायिता ॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायति-
मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्य मैनाकमहीभृतः सत-
स्ततान पक्षान्धुवतः सपक्षताम् ॥११६॥

अन्वय—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान।

अनुवाद—जिस (तालाब) के जल-प्रवाह में प्रतिबिम्बित आकार वाला, वायु की तरङ्गों से चञ्चल, तटवर्ती वृक्ष (समुद्र में) डूबकर रहने वाले, पंखों को कंपाते हुए मैनाक पर्वत की समानता कर रहा था।

मल्लि०—यदिति। यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायामः मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्य सतो वर्तमानस्य पक्षान् धुवतः कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षतां साम्यं ततान, (इत्युपमा)।

टिप्पणी—दैवत-कथा के अनुसार पहले पर्वतों के पंख होते थे। क्रुद्ध होकर इन्द्र ने कुलिश से उनके पंख काट डाले, मैनाक कुल-पर्वतों के साथ क्षीर-सागर में जाकर छिप गया, इसलिये उसके पंख बच गये। यहाँ तालाब में प्रतिबिम्बित वृक्ष को मैनाक के समान बतलाकर तालाब को समुद्र के समान कहा गया है। सपक्षताम्—सजातीयताम्, समान जाति का होना ॥११६॥

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्लवे,
रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके,
हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥११७॥

अन्वय—स नैषधः पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्लवे रिरंसुहंसीकलनादसादरं तत्र अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि ।

अनुवाद—उस निषद देश के राजा ने समुद्र की शोभा को चुराने वाले क्रीड़ा-सर में रमण की इच्छा वाली हंसियों के नाद के प्रति साभिलाष, वहाँ समीप में विचरण करता हुआ, अद्भुत सुवर्णमय हंस देखा ।

मल्लि०—पयोधीति । अथ स नैषधो निषधानां राजा नलः, ('जनपद-शब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यञ्), पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः, अत्र केलि-पल्वले क्रीडासरसि रिरंसूनां रन्तुमिच्छूनां हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्त चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयम्, (दाण्डिनाय-नादिना निपातनात् साधुः) हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । (दीपजनेत्यादिना कर्त्तरि चिण्) ।

टिप्पणी—पयोधिलक्ष्मीमुषि—समुद्र की शोभा को चुराने वाले में, अर्थात् समुद्र के समान शोभा वाले में, संस्कृत-साहित्य में सादृश्य प्रकट करने के लिए प्रायः 'मोषण', 'हरण', 'विडम्बन' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है । देखिए, 'अचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम्', 'विडम्बयन्तं शितिवाससस्त-नुम्' माघ । अबोधि √बुध्+लुङ् (कर्तृवा०) ॥११७॥

प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च,
द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं,
मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥११८॥

अन्वय—बालासु रतिक्षमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं (हंसम् अबोधि)।

अनुवाद—(राजा नल ने) किशोर और युवा अवस्था वाली प्रियाओं के विषय में क्रमशः चञ्चुपुट और चरणयुगल के व्याज से दो पत्र वाले (द्विपत्रित) और पल्लवयुक्त (पल्लवित) कामदेव के द्वारा उत्पादित, अनुराग रूपी वृक्ष के अंकुर को धारण करता हुआ हंस देखा।

मल्लि०—पुनस्तमेव विशिनष्टि—प्रियास्विति। बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात्, रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोस्त्रोट्योः, (चञ्चुस्त्रोटिरुभे-स्त्रियामित्यमरः), चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च, (चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्यात् द्विपत्रितत्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमत्त्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन मिषेणेत्युक्तम्), स्मरार्जितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः। राग एव महीरुहस्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतम् चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचररागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्र-तमित्यर्थः। ईदृशं हंसमबोधीति पूर्वेणान्वयः। ('नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम्प्रति-षेधः। वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम्। तत्र 'रागं बिभ्रतम्' इति हंसविशेषणात् तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः। प्रिया-स्वधिकरणभूतास्वित्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, अन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्। नचायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरपर्य्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्त-विरोधात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च। उभयोरपि रागित्वसाम्यादुभयनिष्ठत्व-भ्रमः केषाञ्चित्। तस्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषय-त्वमेव नाधिकरणत्वमिति सिद्धान्तः। प्रियास्विति विषयसप्तमी न त्वाधार-सप्तमीति सर्वं रमणीयम्। अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चचरणमिषे-णेत्यपह्नवानुप्राणितमिति सङ्करः। तेन च बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदेऽपि तदभेदरू-पातिशयोक्त्युत्थापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैवबहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः)।

टिप्पणी—हंस की चोंच और चरण लाल होते हैं, कवि ने चञ्चुपुट और चरणद्वय का 'मिष' शब्द से अपह्नव करके उसमें क्रमशः द्विपत्रित और पल्लवित रागाङ्कुर की उत्प्रेक्षा की है। अङ्कुर निकलते समय पहले दो पत्ते होते हैं जो आपस में जुड़े रहते हैं, बाद में उसमें पल्लव आते हैं। हंस का चञ्चुपुट द्विपत्रित अंकुर के समान प्रतीत होता था, और उसके चरण पल्लवित अङ्कुर के समान। हंस के द्विपत्रित रागाङ्कुर की विषय बाल प्रिया तथा पल्लवित रागाङ्कुर की विषय युवती प्रिया थीं। द्विपत्रितम्—द्विपत्र+इतच्। पल्लवितम्—पल्लव+इतच। बिभ्रतम्—√भृ (बिभर्ति)+शतृ ॥११८॥

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं
शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम् ।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं
कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥११९॥

अन्वय—महीमहेन्द्रः स एकान्तमनोविनोदिनं तं शकुन्तं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगाद् निर्भरं विधुरोऽपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत्।

अनुवाद—पृथ्वी का इन्द्र वह (नल) मन को अत्यन्त अनुरञ्जन करने वाले उस पक्षी को क्षणभर देखकर प्रिया के विरह के कारण बहुत व्याकुल होते हुए भी कुछ कौतुकपूर्ण चित्त वाला हो गया।

मल्लि०—महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं नितान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्रं विधुरो दुःस्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमनाः कौतुकितचित्तोऽभूत् तं गृहीतुकामोऽभूदित्यर्थः।

टिप्पणी—कुतूहलाक्रान्तमनाः—कुतूहलेन कौतुकेन आक्रान्तं पूर्णं मनः यस्य सः (बहुव्रीहि) ॥११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा
यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा ।

तृणेन वात्येव तयानुगम्यते
जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥१२०॥

अन्वय—अवश्यभव्येषु अनवग्रहग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा धावति, तया भृशावशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव (वेधसः स्पृहा) अनुगम्यते।

अनुवाद—अवश्यम्भावी वस्तुओं के विषय में अप्रतिरुद्ध आग्रह वाली ब्रह्मा की इच्छा जिस ओर दौड़ती है, उसी ओर अत्यन्त परतन्त्र स्वभाव वाला मनुष्य का चित्त, आंधी के पीछे तृणों के समान (ब्रह्मा की इच्छा के) पीछे चलता है।

मल्लि०—कथमीदृशे चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये, (भव्यगेयेत्यादिना' कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः। ('लुपेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः), अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिवन्धा, निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, (ग्रहोऽनुग्रह-निर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यम इति विश्वः), वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्त्तते तथैव दिशा भृशावशात्मनात्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, (पाशादिभ्यो यः), अनुगम्यते। (वेधसः स्पृहा कर्म्म)।

टिप्पणी—धीर प्रकृति होते हुए भी नल क्यों हंस को पकड़ने के लिए चञ्चल हो उठा, इसका समाधान करता हुआ कवि सामान्य सत्य का उद्घाटन करता है—कि ब्रह्मा की इच्छा प्रबल है, उसे कोई रोक नहीं सकता। ब्रह्मा की जैसी इच्छा होती है, मनुष्य परवश होकर वैसे ही कार्य में प्रवत्त हो जाता है। जो नल हंस को पकड़ने के लिये चञ्चल हुआ, वह ब्रह्मा की इच्छा ही थी ॥१२०॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां
तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।

स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः
पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥१२१॥

अन्वय—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः पक्षेण शिरः पिधाय क्षणम् उपपल्वलं निदद्रौ।

अनुवाद—इसके बाद तब रतिखेद से आलस्ययुक्त वह पक्षी एक पैर के सहारे खड़ा होकर गर्दन तिरछी करके पंख से सिर ढक कर क्षण भर के लिये तालाब के समीप सो गया।

मल्लि०—चिकीर्षितार्थे दैवानुकूल्यं कार्य्यतो दर्शयति—अथेति। अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिश्रमालसः सः खगो हंसः तदा नलकुतूहलकालक्षणमेकपादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानम्, (मत्वर्थीयष्ठन् प्रत्ययः, तद्धितर्थेत्यादिनः सङ्ख्यासमासः, 'यस्येति' च इत्यकार लोपस्य स्थानिवद्भावेन ताद्रूप्याभावान्न पादः पदादेशः), तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्य्यगावर्जितकन्धरः आवर्त्तितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वलसमीपे निदद्रौ सुष्वाप। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात्।

टिप्पणी—एकपादिकाम्—एक पाद जिस क्रिया में है, ऐसी क्रिया का सहारा लेकर 'एकः पादः यस्यां क्रियायाम्' इस अर्थ में 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्र के अनुसार संख्यावाचक 'एक' शब्द का 'पाद' के साथ समास होकर 'अत इनिठनौ' मत्वर्थीय ठन् (इक) प्रत्यय होकर एकपादिका शब्द बनता है। उपपल्वलम्—पल्वलस्य समीपे उपपल्वलम् (अव्ययीभावसमास)। पिधाय—अपि+√धा+ल्यप विकल्प से 'अ' लोप होकर 'पिधाय' और 'अपिधाय' दो रूप बनते हैं ॥१२१॥

सनालमात्माननर्निर्जितप्रभं
ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डयण्डितं
स पीतमम्भःप्रभुचामरञ्च किम् ॥१२२॥

अन्वय—स तम् 'आत्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं सनालं काञ्चनम् अम्बुजन्म किम्, विद्रुमदण्डमण्डितं पीतम् अम्भःप्रभुचामरं च किम्, (इति) अबुद्ध।

अनुवाद—उस (नल) ने उस (हंस) को 'क्या यह मेरे मुख से जीती गई कान्ति वाला, लज्जा से झुका हुआ, नालसहित सुवर्ण का कमल है और क्या (यह) प्रवालों से जटित दण्ड से भूषित (तथा) पीत जल के अधिपति (वरुण) का चामर है" यह समझा।

मल्लि०—सनालमिति। स नलः तं निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं निजमुखनिराकृतशोभम्, अतएव, ह्रिया नतं सनालं नालसहितं काञ्चनं सौवर्णमम्बुजन्माम्बुजं किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डितं पीतं भूषितं पीतवर्णमम्भःप्रभोरपाम्पत्यः वरुणस्य चामरं किम् ? (इति शब्दोऽत्राध्याहार्य्यः), इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। (बुध्यतेर्लुङि तङः 'झशस्तथोर्द्धोऽधः' इति तकारस्य धकारः)।

टिप्पणी—क्योंकि वह हँस एक पैर पर खड़ा था, इसलिये नालसहित सुवर्ण कमल-सा प्रतीत होता था, और क्योंकि उसका चरण लाल था, इस लिये विद्रुम-जटित दण्ड से युक्त चामर-सा प्रतीत होता था। अबुद्ध—√बुध् (दिवा०)+लुङ् (कर्तृवा० आत्मनेपद अन्यपु० एकव०)॥१२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ
ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजै-
र्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी॥१२३॥

अन्वय—ततः हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी किमु रेजतुः।

अनुवाद—तब घोड़े से उतरे हुए इस (नल) के जूतों को धारण करने वाले चरण उन दोनों वनों के नूतन पल्लवों तथा कमलों से युद्ध करने की इच्छा वाले, मानो, कवच बाँधे हुए जैसे शोभित हो रहे थे।

मल्लि०—कृतेति । ततस्तन्निदर्शनान्तरं हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावरणस्यास्य नलस्योपानही पादत्राणे, ('पादुका पादूरुपानत् स्त्री, इत्यमरः), [बिभ्रती] पदे चरणे तनोर्वनयो सलिलकाननयोः, (वने सलिलकानने इत्यमरः), प्रवालैः पल्लवैः तथाम्बुजैः पद्मैश्चेत्यर्थः, (सहार्थे तृतीया), नियोद्धुं, कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थः (तुं काममनसोरपीति तुमुनो मकारलोप.) अतो बद्धवर्म्मणी किंतु बद्धकवचे इव ते रेजतुः, । किमित्युत्प्रेक्षा ।

टिप्पणी—पदे (नपु०द्विव०) चरणौ, पैर, 'रेजतुः' क्रिया का कर्त्ता । वनयोः—वन श्लिष्ट शब्द है, इसके दो अर्थ हैं—(१) कानन (२) जल; कानन के पल्लवों और जल के कमलों से युद्ध की इच्छा से नल के चरणों ने, मानो, जूतों के रूप में कवच बाँध रक्खे थे । रेजतुः—√राज्+ लिट् (द्विव० अन्यपु०) नियोद्धुकामे—नि+युध्+तुमुन्+काम; काम और मनस् परे रहने पर 'तुमुन्' प्रत्यय के मकार का लोप हो जाता है ॥१२३॥

विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं
स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम् ।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना
नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥१२४॥

अन्वय—अयं नृपः स्वयं कपटेन वामनीं बलिध्वंसिविडम्बिनीं मूर्तिं विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त ।

अनुवाद—इस राजा (नल) ने स्वयं कपट से छोटी, बलि को हराने वाले वामन का अनुकरण करने वाली मूर्ति बनाकर निःशब्द चरण से समीप जाकर हाथ में पक्षी पकड़ लिया ।

मल्लि०—विधायेति । अयं नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वाम्, (गौरादित्वात् ङीप), बलिध्वंसिविडम्बिनीम्, कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्तिं विधाय, कायं सङ्कोच्येत्यर्थः, मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त संघृतवान्, जग्राहेत्यर्थः । (स्वभावोक्तिरलङ्कारः) ।

टिप्पणी—वामनीम् (विशेषण)—ह्रस्व, बौनी। बलिध्वंसिविडम्बिनीम् (विशेषण)—बलिध्वंसिनं विडम्बयतीति ताम्, अर्थात् पाताल के राजा बलि का दर्पनाश करने वाले वामनावतार विष्णु की मूर्ति का अनुकरण करने वाली। दैवत-कथा के अनुसार विष्णु ने तीन चरणों में तीनों लोकों को नाप दिया था और पाताल के राजा बलि को, जिसे अपनी दानशूरता का बड़ा अभिमान था, वचन पूरा न कर सकने के कारण बाँध कर डाल दिया था। राजा नल ने भी झुककर अपने शरीर को छोटा कर लिया और दबे पाँव से हंस के पास पहुँच कर उसे हाथ में पकड़ लिया। समधत्त+सम्+धा+लङ् (आत्मने० अन्यपु० एकव०) ॥१२४॥

> तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात्
> पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः।
> गतो विरुत्योड्डयने निराशतां
> करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥१२५॥

अन्वय—सः आत्मानं तदात्तमवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत्। उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य निरोद्धुः करौ केवलं दशति स्म।

अनुवाद—उस (हंस) ने अपने को उस (नल) के द्वारा पकड़ा हुआ जानकर घबराहट के साथ उड़ने का बार बार प्रयत्न किया। (लेकिन) उड़ने के विषय में निराश हुआ (वह) रोकर पकड़ने वाले के दोनों हाथों को ही काट रहा था।

मल्लि—तदिति। सः हंस आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् (यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुषादित्वाच्च्लेरङादेश), उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विक्रुश्य निरोद्धुः गहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दृष्टवान्। (अत्रापि स्वभावोक्तिरेव)।

टिप्पणी—आत्तम्—आ+√दा+क्त, स्वरान्त उपसर्ग से परे 'दा' धातु

को 'त' हो जाता है। प्रायसत्—प्र+√ यस्+लुङ् (अन्यपुरुष एकवचन), पुषादि धातुओं में होने के कारण च्लि को अङादेश होगा, न कि सिच् (स्), जैसा कि साधारणतया लुङ्लकार में होता है। निरोद्धुः—नि+√रुध्+तृच्, षष्ठी एकवचन।

ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं
सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम्।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं
न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥१२६॥

अन्वय—ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पितां प्रपद्य ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः तं नृपं पतगग्रहात् न्यवारयद् इव।

अनुवाद—घबराकर उड़ने वाले पक्षियों के समूह से भरा हुआ (वह) तालाब विषाद के कारण दयाभाव को प्राप्त करके तरङ्गों से चञ्चल कमल-रूपी करों से उस राजा को पक्षी के पकड़ने से, मानो रोक रहा था।

मल्लि०—स इति। ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सङ्कुलं सरः कर्तृ उत्कतया उन्मनस्तया, (उत्क उन्मना इति निपातनादभिधानाच्च साधुः), अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैः, (इति व्यस्तरूपकम्), पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेत्युत्प्रेक्षा। (वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य कर-साध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्। अत एवेवशब्दस्य उपमावाचेनार्थानुसाराद्व्यव-हितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

टिप्पणी—जैसे कोई दयालु पुरुष अपने सामने किसी को मारते देखकर मारने वाले को रोकता है, वैसे ही तालाब भी, मानो, कमलों के रूप में हाथ हिला-हिलाकर राजा को पक्षी के पकड़ने से मना कर रहा था। यहाँ कमल में कर का आरोप किया गया है और जड़ तालाब वस्तुतः निवारण नहीं कर सकता है इसलिये उसमें निवारण किया की उत्प्रेक्षा की गई है ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं
श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा
चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥१२७॥

अन्वय—रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं प्रविहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ।

अनुवाद—सुन्दर पक्षी से विरहित उस तालाब को छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी के बजते हुए, कमल सदृश चरणों के नूपुर के समान, मानो, कलहंसो की मण्डली ने किनारे पर कूजन किया ।

मल्लि०—पतत्रिणेति । रुचिरेण पतत्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्या गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलद्भ्यां पदाम्भोरुहनूपुराभ्याम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज । (स्वयूथ्यभ्रंशे कूजनमेषां स्वभावस्तत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्यां तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते, उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनालक्षक इत्यवधेयम्) ।

टिप्पणी—हंस के पकड़े जाने पर उसके साथी अन्य हंसों ने निनाद किया, जो कि स्वाभाविक था । कवि ने इस पर उत्प्रेक्षा की है कि वह कलहंसनिनाद, मानो, सुवर्ण हंस के पकड़े जाने से रुष्ट होकर उस सर को छोड़कर जाती हुई लक्ष्मी के चरणों के नूपुरों की झङ्कार थी ॥१२७॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृश-
स्त्वमङ्ग यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः
खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

अन्वय—'इयं वसुधा वासयोग्या न, यस्याः, अङ्ग, उज्झितस्थितिः ईदृशः त्वं पतिः' इति क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः तम् आरवैः आचुक्रुशुः खलु ।

अनुवाद—'यह पृथ्वी रहने योग्य नहीं है जिसका, मर्यादा को त्याग देने वाला, इस प्रकार का तू स्वामी है', यह कहकर पृथ्वी को छोड़कर आकाश का आश्रय लिये हुए पक्षी उच्चध्वनि से, मानो, उसकी निन्दा कर रहे थे।

मल्लि०—नेति। इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न। कुतः? अङ्ग भो! यस्या वसुधाया उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिधारकः त्वं पतिः पालकः। इत्थं खगा क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैरुच्चध्वनिभिराचुक्रुशु खलु उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भन चक्रुरिव, (इत्युत्प्रेक्षा गम्या)।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी डर कर उड़ते हुये पक्षियों की ध्वनि में राजा की निन्दा करने की उत्प्रेक्षा की गई है। उज्झितस्थितिः—उज्झिता त्यक्ता स्थितिः मर्यादा येन सः, जिसने मर्यादा का त्याग कर दिया है (बहुव्रीहिसमास), √ उज्झ् (तुदादि)+क्त। ईदृश—ऐसा अर्थात् निर्दोष को भी दण्ड देने वाला ॥१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता,
द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा,
जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

अन्वय—इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा' इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा अवादि।

अनुवाद—'यह सुवर्ण के पक्षों से उत्पन्न सुन्दरता पक्षी की (कहीं) नहीं देखी' इस प्रकार बार बार प्रशंसा करते हुए उस राजा से, तब, कर रूपी पिंजरे में बन्द उस मानस-वासी (हंस) ने कहा।

मल्लि०—नेति। इयमीदृग् जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्नसौन्दर्य्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा, हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः, इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करप

स्पृशा करतलगतेन मानसं सरः ओकः स्थानं यस्येति सः तेन मानसौकसा हंसेन, (हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकस इत्यमरः), अवादि उक्तः। (वदेः कर्म्मणि लुङ्)।

टिप्पणी—मानसौकसा—हंसेन, मानसम् ओकः यस्य सः, अर्थात् तालाव ही जिसका घर है, तालाव में रहने वाला। अवादि—√वद्+लुङ् (कर्मवा०) ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः
समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीकरै-
र्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

अन्वय—मम हेमजन्मनः पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिग् अस्तु। तुषारशीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत्।

अनुवाद—मेरे सुवर्ण के पंखों को देखकर लोभ से चञ्चल आपके मन को धिक्कार है। तुषार (कुहरे) की बूँदों से समुद्र के समान आपकी इनसे कितनी लक्ष्मी-वृद्धि हो सकती है।

मल्लि०—तदेव चतुर्भिराह—धिगित्यादि। हेम्नो जन्म येषान्तान् हेमजन्मनो हेमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशगं भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा। (धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरित्यमरः। 'धिगुपर्य्यादिषु त्रिष्विति' धिग्योगान्मन इति द्वितीया)। तुषारशीकरैः हिमकणैरर्णवस्येव तव एभिः पक्षैः कियान् कमलाया लक्ष्म्याः कमलस्य जलस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानपीत्यर्थः।

टिप्पणी—हंस राजा को उपालम्भ देता हुआ कहता है कि जैसे हिमकणों से समुद्र के जल में कोई वृद्धि नहीं होती, वैसे ही मेरे स्वर्ण के पक्षों से तनिक भी आपकी लक्ष्मी की वृद्धि नहीं हो सकती है, फिर भी मेरे स्वर्ण पङ्खों को देखकर ललचाये हुए आपके मन को धिक्कार है।

कमलोदय:—(१) कमलाया: लक्ष्म्या: उदय:, लक्ष्मी की वृद्धि, (२) कमलस्य जलस्य अभिवृद्धि:, 'कमल' शब्द का अर्थ 'जल' भी होता है, 'कमलं सलिलं जलम्' इत्यमर:। मान: धिग्—धिक् के योग में 'मन:' द्वितीया विभक्ति है ॥१३०॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम
त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मन:।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं
विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

अन्वय—त्वदीक्षणाद् विश्वसितान्तरात्मन: मम वध: केवलं प्राणिवध: न, विश्वासजुषां द्विषामपि निवर्हणं धर्मधनै: विशिष्य विगर्हितम्।

अनुवाद—तुम्हारे देखने से मुझ विश्वस्त हृदय वाले का वध प्राणिहिंसा ही नहीं है, (अपितु विश्वासघात भी है)। विश्वास प्राप्त किये हुए शत्रुओं की भी हिंसा की धर्मशास्त्रकारों ने अत्यधिक निन्दा की है।

मल्लि०—नेति। हे नृप, त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य, विश्वस्तस्येत्यर्थ:, मम वध: केवलं प्राणिम:त्रवधो न, किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थ: तत: किमत आह, विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्मधनैर्धर्मपरै: मन्वादिभि: विशिष्यातिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थ:।

टिप्पणी—हंस राजा नल को धर्म का भय दिखलाता है—मेरे मारने में तुम्हें केवल जीवहिंसा का ही पाप नहीं होगा, अपितु विश्वस्त के वध का पाप भी होगा, क्योंकि तुम्हें देखकर मेरे हृदय में विश्वास उत्पन्न हो गया था। मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने तो विश्वासी शत्रु के वध की भी निन्दा की है ॥१३१॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा
न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।

धिगीदृशं ते नृपतेः कुविक्रमं
कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

अन्वय—पदे पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, एष हिंसारसः तेषु न पूर्यते। ते नृपतेः ईदृशं कुविक्रमं धिग्, यः कृपाश्रये कृपणे पतत्रिणि (दर्श्यते)।

अनुवाद—पद पद पर रण में प्रचण्ड योद्धा हैं (क्या) यह हिंसाप्रेम उनमें पूरा नहीं होता ? तुझ राजा के ऐसे निन्दित पराक्रम को धिक्कार है, जो कृपा के पात्र दीन पक्षी पर (दिखलाया जाता है)।

मल्लि०—पदे पदे इति। रणोद्भटाः रणेषु प्रचण्डाः भटा योधाः पदे पदे सन्ति सर्व्वत्र सन्तीत्यर्थः। (वीप्सायां द्विर्भावः)। एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते, (अत्र काकुः), न पूर्यते किमित्यर्थः। नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक्, यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि, क्रियत इति शेषः।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने हंस के मुख से मार्मिक व्यङ्ग्य किया है। कुविक्रमम्—कुत्सितः विक्रमः तम् ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

अन्वय—यस्य मम मुनेः इव वारिभूरुहां फलेन मूलेन च इत्थं वृत्तयः, तस्मिन् अपि दण्डधारिणा त्वया पत्या अद्य धरणी कथं न हृणीयते।

अनुवाद—जिस मेरी मुनि के समान कमलों के फल और मूल से इस प्रकार जीविका होती है, उसको भी दण्ड देने वाले तुझ पति से आज पृथ्वी लज्जित क्यों नहीं होती ?

मल्लि०—फलेति। यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहां जलरुहां पद्मादीनाम्, अन्यत्र वारिरुहां भूरुहां च, फलेन मूलेन चेत्थमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो

जीविका:, तस्मिन् अपि, अनपराधेऽपीति भाव:, दण्डधारिणा दण्डकारिणा, अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थ:, पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते, जुगुप्सत एवेत्यर्थ: । (हृणीयते: कण्ड्वादियगणान्ताल्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणादात्मनेपदम् । अकार्य्यकारिणं भर्त्तारमपि गर्हन्ते स्त्रिय इति भाव:) ।

टिप्पणी—जो राजा दुष्टों को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है वह प्रशंसनीय होता है । इसके विपरीत, जो दण्ड का समुचित प्रयोग नहीं करता है, वह स्वयं मारा जाता है । देखिये, मनुस्मृति अध्याय ७, "तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषयी क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ।।" वृत्तय:—जीविका, निर्वाह । हृणीयते—√ हृणीङ् (कण्ड्वादिगणीय) लट् लकार । वारिभूरुहाम् हंस पक्ष में (१) कमल-लता या कमल, मुनिपक्ष में, (२) वारिरुहां भूरुहाञ्च अर्थात् जल और भूमि में उत्पन्न होने वाले लता-वृक्षों के फल-मूलों से ।।१३३।।

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः
सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथी-
चकार कारुण्यरसापगा गिरः ।।१३४।।

अन्वय—इति ईदृशै: वाङ्मयै: तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृप विरचय्य स खग: दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगा: गिर: अतिथीचकार ।

अनुवाद—इस प्रकार ऐसे वचनों से उस राजा नल को आश्चर्य, लज्जा और दया से युक्त करके उस पक्षी (हंस) ने दया के सागर उस (नल) के हृदय में करुणारस की नदी के समान वचनों को अतिथि बनाया ।

मल्लि०—इतीति । इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशै: सनिन्दोपालम्भैरित्यर्थ:, वाङ्मयैर्वाग्विकारै:, ('एकाचो नित्य मयटमिच्छन्तीति' विकारार्थे मयट्प्रत्यय:) पक्षिकथनात् चित्रम्, परै: स्वाकार्य्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यम्, परार्त्तिदर्शने तन्निवर्त्तनेच्छा कृपा, ताभि: सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृप

विरच्य्य विधाय, (ल्यपि लघुपूर्व्वादित्ययादेशः), दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगाः करुणारसनदीः गिरः अतिथीचकार, प्रवेशयामासेत्यर्थः । (समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः) । रूपकालङ्कारः ।

टिप्पणी—यहाँ नल के हृदय को दया का समुद्र कहा गया है, इसलिये 'गिरः' में 'कारुण्यरसापगाः' अर्थात् करुणारस की नदियों का आरोप समझ लिया जायेगा क्योंकि समुद्र में नदियों का प्रवेश होता है । **सचित्रवैलक्ष्यकृपम्**—चित्रेण वैलक्ष्येण कृपया च सहितम् । (बहुव्रीहिसमास), अर्थात् पक्षी के बोलने से आश्चर्ययुक्त अनुचित कार्यों के उद्घाटन से लज्जित तथा परपीड़ा से कृपायुक्त करके । **अथितीचकार**—न अतिथिम् अतिथिं चकार, अर्थात् जो अतिथि नहीं था उसे अतिथि बनाया; अभूततद्भाव अर्थ में च्वि प्रत्यय, अतिथि+च्वि+कृ+लिट् ।।१३४।।

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दय-
न्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो ।।१३५।।

अन्वय—जननी मदेकपुत्रा जरातुरा; तपस्विनी वरटा नवप्रसूतिः, एष जनः तयोः गतिः तमर्दयन् विधे, त्वां करुणा नो रुणद्धि ।

अनुवाद—माता जिसका मैं ही अकेला पुत्र हूं, बुढ़ापे से पीड़ित है, बेचारी हंसी नये प्रसव वाली है । यह जन उन दोनों का सहारा (गति) है, उस (मुझ) को पीडित करने वाले, ऐ, विधि, क्या तुझे करुणा नही रोकती ?

मल्लि०—ता एव गिरः प्रपञ्चयति—मादित्यादिना । तत्र तावद् दैवमुपालभते—हे विधे, जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा, मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः, जरातुरा, स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः । वरटा स्वभार्य्या (हंसस्य योषिद्वरटेत्यमरः), नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या । एष जनः,

त्वमित्यर्थः, तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणम्, तं जनम्, मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन् हे विधे, विधातः त्वां करुणा न रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः ।

टिप्पणी—वरटा—हंसी, हंस की स्त्री । नवप्रसूतिः—नवा प्रसूतिः प्रसवः यस्याः सा बहुव्रीहिसमास), जिसने नया ही सन्तान को जन्म दिया है । बूढ़ी माता और नवप्रसूता स्त्री पर सबको दया आ जाती है, इसलिये वह भाग्य को उपालम्भ देता है कि बूढ़ी माँ और नवप्रसूता पत्नी के एकमात्र अवलम्बन को पीड़ित करते हुए उसे करुणा क्यों नहीं आती ।।१३५।।

मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया दया-
सखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तर-
स्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः ।।१३६।।

अन्वय—मातः, मम दयासखाः सखायः स्रवदश्रवः मुहूर्त्तमात्रं भवनिन्दया निवृत्तिम् एष्यन्ति; परं त्वयैव सुतशोकसागरः दुरुत्तरः ।

अनुवाद—हे माता, मेरे दयालु मित्र आँसू बहाते हुए क्षण भर संसार की निन्दा करके शान्ति प्राप्त कर लेंगे, किन्तु तुझे ही पुत्रशोकरूपी सागर पार करना कठिन होगा ।

मल्लि०—अथ मातरं शोचयति—मुहूर्त्तेति । हे मातः, सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निर्वृतिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तं दुःखेनोत्तीर्य्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः, (तरतेः कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः) ।

टिप्पणी—यह सत्य ही है कि प्रायः मित्र और सम्बन्धी थोड़ी देर आँसू बहाकर तथा संसार की अनित्यता की बातें कहकर मृतक के शोक को भुला देते हैं, केवल मृतक के आश्रितजनों के लिये उसे भुलाना कठिन होता है । तुलना कीजिये, 'यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह वाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः

प्रसादम्' भासकृत स्वप्नवासदत्तनाटक । दयासखा:—दयाया: सखाय: सहचरा:, दयालव:, तत्पुरुषसमास 'राजा: सखिभ्यष्टच्' इस सूत्र से समासान्त टच्प्रत्यय होने पर 'दयासख' शब्द बना । दुरुत्तर:—दु:खेन उत्तीर्यते इति दुरुत्तर:, जिसे कठिनता से पार किया जा सके; यहाँ कठिन अर्थ में कर्म में खल् प्रत्यय हुआ है, दुर्+उत्+√तृ+खल् (अ) ॥१३६॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थर:
प्रिय: कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिण:
प्रिये स कीदृग् भविता तव क्षण: ॥१३७॥

अन्वय--प्रिये, 'मदर्थसन्देशमृणालमन्थर: प्रिय: कियद् दूरे' इति त्वया उदिते, अथ रुदत: पक्षिणा: विलोकयन्त्या: तव स क्षण: कीदृग् भविता ।

अनुवाद—हे प्रिये, मेरे लिये सन्देश और मृणाल देने में विलम्ब करने वाला (मेरा) प्रिय कितनी दूर है ?' तेरे यह कहने पर, तब, रोते हुए पक्षियों को देखती हुई का, तेरा वह क्षण कैसा होगा ?

मल्लि०—अथ भर्य्यामुद्दिश्य विलपति मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये, मह्यमिमे मदर्थे, (अर्थेन सह नित्यसमास: सर्वलिङ्गता च वक्तव्या), तयो: सन्देशमृणालयो: वाचिकविषयो: मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्ति: प्रिय: कियद्दूरे देशे वर्त्तत इति त्वया उदिते उक्ते, पृष्टे सतीत्यर्थ: अथ प्रश्नानन्तरं रुदत: अनिष्टोच्चारणाशक्त्या अश्रूणि विमुञ्चत: पक्षिण: इतो गच्छतो गतान्विलोकयन्त्यास्तव स क्षण: स काल: कीदृग् भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भाव: । (कर्त्तरि लुट्) ।

टिप्पणी—श्लोक का भावार्थ यह है कि जब अन्य पक्षी लौटकर वापिस जायेंगे तो उसकी स्त्री पूछेगी—'मेरा प्रिय, सन्देश तथा मृणाल लेकर कितने पीछे रह गया है ?'—तब वे पक्षी हंस के पकड़े जाने की बात मुख से न निकाल सकेंगे और उनकी आँखों से आँसू बह निकलेंगे । यह देखकर उसकी

स्त्री अनिष्ट को समझकर वज्राहत-सी हो जायेगी। मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः—मह्यमिमे मदर्थे ते सन्देशमृणाले तयोः मन्थरः कृतविलम्बः (तत्पुरुष) ॥१३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजा-
त्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता
लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥१३८॥

अन्वय—विधातः, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि 'वल्लभया वियोक्ष्यसे' इति ललाटन्तपनिनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता।

अनुवाद—हे विधाता, मेरी प्रिया की शीतलता और मृदुलता को बनाने वाले तेरे कमल तुल्य कर से मेरे विषय में 'तुम प्रिया से वियुक्त होगे', यह ललाट को तपाने वाले कठोर अक्षरों वाली लिपि कैसे निकली?

मल्लि—कथमिति। हे विधातः, प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनस्तादृक्तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्म्माणकुशलास्तव पाणिपङ्कजात् पङ्कजमृदुशिशिरात् पाणेरित्यर्थः, मयि विषये वल्लभया वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा, अतएव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि (असूर्य्यललाटयोर्दृशितपोरिति खश्प्रत्ययः, अरुर्द्विषदित्यादिना मुमागमः), तानि निष्ठुराणि कर्णकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता? (अत्र कारणविरुद्धकार्य्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालंङ्कृतिर्मता' इति।'

टिप्पणी—हंस को आश्चर्य है कि ब्रह्म ने अपने जिन कमल-तुल्य शिशिर एवं मृदुल करों से उसकी प्रिया के कोमल अङ्गों का निर्माण किया था, उन्हीं करों से उसके ललाट पर ऐसे कठोर अक्षर कैसे लिख दिये—कि तू अपनी प्रिया से वियुक्त हो जायेगा। कोमल करों से कोमल अक्षर लिखे जाने चाहिये थे, न कि कठोर। ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा—ललाटं

तपन्तीति ललाटन्तपानि निष्ठुराणि च अक्षराणि यस्याः सा (बहुव्रीहि); ललाट (उपपद)+√तप्+खश् (अ), समास होकर 'मुम्' आगम ।।१३८।।

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं
ममाद्य वृत्तान्तमिमं बतोदिता
मुखानि लोलाक्षि दिशामसंशयं
दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ।।१३९।।

अन्वय—लोलाक्षि, अपि अद्य स्वयूथ्यैः अशनिक्षतोपमं मम इमं वृत्तान्तम् उदिता दिशां दशापि मुखानि, बत, असंशयं शून्यानि विलोकयिष्यसि ।

अनुवाद–हे चञ्चल नेत्रों वाली, और आज अपने झुण्ड के पक्षियों से मेरा वज्रप्रहारतुल्य यह समाचार कही गई (तू) दिशाओं के दशों मुखों को, हाय, निस्सन्देह शून्य देखेगी ।

मल्लि०—अपीति । अपि चेत्यपेरर्थः, अद्यास्मिन् दिने, (सद्यः परुदित्यादिना निपातः), स्वयूथ्यैः स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनिक्षतोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्ताम् उदिता उक्ता सती, (वदेब्रु्वर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्म्मणि क्तः, वचिस्वपीत्यादिना सम्प्रसारणम्), हे लोलाक्षि, दश दिशां मुखानि शून्यान्यलक्ष्यलक्ष्काणि विलोकयिष्यसि. असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । (अर्थाभावेऽव्ययीभावः बतेति खेदे ।)

टिप्पणी—अपि—यहाँ 'अपि' शब्द का 'और' के अर्थ में प्रयोग किया गया है । स्वयूथ्यैः—स्वयूथे भवैः, स्वयूथे+यत्, अपने सङ्घ में रहने वाले । उदिता—वद्+क्त, कही गई, वद् धातु द्विकर्मक है, इसके गौणकर्म में क्त प्रत्यय हुआ है, इसलिये प्रधान कर्म 'वृत्तान्त' में द्वितीया विभक्ति है ।।१३९।।

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा
त्वया विचित्राङ्गि विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः
स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ।।१४०।।

अन्वय—विचित्राङ्गी यदि मम एव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया विपद्यते, तत्, हा, दैवेन हतः अपि (पुनः) हतः अस्मि, यतः ते शिशवः स्फुटं परासवः ।

अनुवाद—हे चित्र अङ्गों वाली, यदि मेरे ही शोक से फटी छाती वाली तू मर जायेगी, तो, हाय, दैव का मारा हुआ मैं (फिर) मारा जाऊंगा, क्योंकि तेरे बच्चे भी, स्पष्ट है, प्राण छोड़ देंगे ।

मल्लि०—ममैवेति । हे चित्राङ्गि, लोहितचञ्चुचरणत्वाद्विचित्रगात्रे, मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्हि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, (हा विस्मय-विषादयोरिति विश्वः) कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरप्यभावे पोषका-भावान्मृताः, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ।

टिप्पणी—अपने विरह के शोक से आतुर पत्नी की मृत्यु की कल्पना से हंस को यह विचार द्विगुणित दुःख उत्पन्न कर रहा है कि माता के अभाव में उसके बच्चों का पालन करने वाला कोई भी न रहेगा और वे बेचारे भूखे-प्यासे ही मर जायेंगे । विपद्यते—वि + √पद् + लट् (भाववाच्य) ॥१४०॥

तवापि हा हा विरहात्क्षुधाकुलाः
कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथै-
र्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥१४१॥

अन्वय—हा हा बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते तव अपि विरहात् क्षुधाकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः ।

अनुवाद—हाय, हाय, बहुत कामनाओं से चिरकाल में प्राप्त मेरे वे बच्चे जिनकी आंखे नहीं खुली हैं, तेरे भी वियोग के कारण भूख से पीडित होकर उन घोंसलों के अन्दर छटपटाकर क्षण भर में मर जायेंगे ।

मल्लि०—ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति । हे प्रिये, बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः, कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनु-

न्मीलितेक्षणा मम शिशवः तवापि, न केवलं ममैवेति भावः विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु, स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, (कुलायो नीडमस्त्रियामित्यमरः), विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः। हा हेति खेदे।

टिप्पणी :—हंस का विलाप बहुत ही मर्मस्पर्शी है। वह कहता है कि मेरे वे बच्चे जो किसी तरह बड़े भाग्य से बहुत मनोरथों से चिर समय बाद उत्पन्न हुये थे, क्षण भर में ही मर जायेंगे। 'चिरेण लब्धाः' और 'क्षणेन गताः' का विरोध (Contrast) द्रष्टव्य है। क्षणेन कार्य-समाप्ति के अर्थ में तृतीया विभक्ति ॥१४१॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतै-
र्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स
स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

अन्वय—सुताः चूङ्कृतैः कम् चिराय आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम् इति प्रमील्य स स्रुतस्य नृपाश्रुणः सेकाद् बुबुधे।

अनुवाद—हे पुत्रों चूंकारों से किस को चिरकाल तक बुलाकर और किसकी ओर काँपते हुए मुखों को करके कथा में अवशिष्ट रहो' यह कहता हुआ मूर्छित होकर वह (हंस) राजा के बहे हुए आँसुओं के सिञ्चन से होश में आया।

मल्लि०—सुता इति। हे सुताः चूङ्कृतैश्चूङ्कारैश्चिराय कमाहूय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्वं कथामात्रशेषा भवत, कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्वम्, (प्राप्तकाले लोट्), मरणकालः प्राप्त इत्यर्थः इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः, (गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः), प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः स्रुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे। (प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या)।

टिप्पणी—अभिप्राय यह है कि माता-पिता के अभाव में मृत्यु-समय आने पर भी कोई बच्चों की देख-रेख करने वाला नहीं रहेगा, वे अनाथ ही मर जायेंगे, इस विचार से हंस को मूर्च्छा आ गई। यह देखकर दयालु राजा की आँखों से आँसू बहने लगे, जिनके सिञ्चन से हंस फिर सचेत हो गया। कथासु शिष्यध्वम्—'कथा में अवशिष्ट रहो' अर्थात् 'मरो', 'शिष्यध्वम्' में 'प्राप्त-काल' के अर्थ में लोट् लकार है, इसलिये 'सुताः कमाहूय......कथासु शिष्यध्वम्' का अर्थ यह है—हे पुत्रों, चुङ्कारों से किसको चिरकाल तक बुलाकर और किसकी ओर चञ्चल मुख करके मरोगे ?' अर्थात् मरते समय तुम्हारे साथ सहानुभूति करने वाला भी कोई नहीं होगा ॥१४२॥

इत्यमुं विलपन्तममुञ्चद्
दीनदयालुतयावनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं
गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥१४३॥

अन्वय—दीनदयालुतया अवनिपालः 'रूपम् अदर्शि यदर्थं धृतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छ' इति अभिधाय इत्थं विलपन्तम् अमुम् अमुञ्चत् ।

अनुवाद—दीनों पर दयालु होने के कारण राजा ने, जिसके लिये तुम्हें पकड़ा था वह रूप देख लिया, अब इच्छानुसार जाओ', यह कहकर इस प्रकार विलाप करते हुए उस (हंस) को छोड़ दिया।

मल्लि०—अथ 'सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरिति' काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह इत्थमित्यादिना। इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसम् अवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकितं यस्मै यदर्थं रूपदर्शनार्थमेव धृतो गृहीतोऽसि अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान्। बोवकवृत्तम्। (बोधकवृत्तमिदम्भभभ गाविति लक्षणात्)।

टिप्पणी—अदर्शि—√ दृश् + लुङ् (कर्मवाच्य अन्यपु० एकव०)। यथेच्छम्—इच्छामनतिक्रम्य इति यथेच्छम् (अव्ययीभाव) ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्त्रियमाणमार्गान्
प्राक्छोकनिर्गलितनेत्रपयः प्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन
नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥१४४॥

अन्वय—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनतयां निजबान्धवानां प्राक् शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्त्रियमाणमार्गान् चक्रे ।

अनुवाद—उसने मण्डलाकार भ्रमण के व्याज से आरती करते हुए अपने बान्धवों के पहले शोक के कारण निकले हुए अश्रु-प्रवाह को हर्ष से उत्पन्न अश्रुओं से अनुसरण किया जाता हुआ मार्ग वाला किया ।

मल्लि०—आनन्देति । स हंसः चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनां जनयतां कुर्वतां निजबान्धवानाम् (बन्धुमुक्तं बान्धवाः नीराजयन्तीति समयाचारः), प्राङ् मोचनात्पूर्वं शोके निर्गलिता निःसरिता नेत्रपयःप्रवाहाः वाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रभिरानन्दवाष्पैरनुस्त्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान् । (अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं बन्धमुक्तस्वयूथ्यभ्रमणं छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नवभेदः । अत्र चकत्कारकारित्वात् मङ्गलाचाररूपत्वाच्च सर्वत्र सर्गान्तश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान् भाष्यकारः—मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्तीति । वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । यथाह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनमिति' ।

टिप्पणी—यहाँ हंस के छूटने पर हर्ष के कारण मण्डलाकार गति में घूमते हुए पक्षियों में नीराजना करने का आरोप किया गया है । पहले पक्षियों के आँसू शोक के कारण बहे थे, अब हंस के छूटने पर उनके आँसू हर्ष के कारण बह निकले । अनुस्त्रियमाण—अनु + √सृ + शानच् (कर्मवाच्य) ।

चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन—चक्रेण निभं सदृशं यच्चङ्क्रमणं भ्रमणं तस्य छलेन, चङ्क्रमण = √क्रम + यङ् + ल्युट् ॥१४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिगतः ॥१४५॥

अन्वय—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च यं जितेन्द्रियचयं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः ।

अनुवाद—श्रेष्ठ कवियों के मुकुटों के आभूषण रूप हीरे श्रीहीर और मामल्लदेवी ने जिस इन्द्रिय-समूह को जीतने वाले श्रीहर्ष नाम के पुत्र को उत्पन्न किया । उसके चिन्तामणि नामक मन्त्र के चिन्तन के फलस्वरूप, शृङ्गाररसमयी वचनभङ्गी से सुन्दर नैषधीयचरित नामक महाकाव्य में यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

मल्लि० – अथ कविः काव्यवर्णनामाख्यानपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह—श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेष्ठश्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः श्रीहीरो नाम विद्वान श्रीहर्षं नाम यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता, सा च यं सुतं सुषुवे तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसवृत्त्या चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने अपने माता-पिता का परिचय दिया है। श्रीहर्ष के पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी था। श्रीहीर, कवि के शब्दों में, कविराजों के मुकुट-मणि थे। महाकवि श्रीहर्ष, उनके अपने शब्दों में, जितेन्द्रिय थे और उन्हें चिन्तामणि नामक मन्त्र सिद्ध था जिसके प्रभाव से उन्होंने यह चारु महाकाव्य लिखा है ॥१४५॥



परिशिष्ट—१

नैषधमहाकाव्ये प्रथमसर्गस्थश्लोकानां वर्णानुक्रम-सूची

परिशिष्ट—२

नैषधमहाकाव्ये प्रथमसर्गस्थानां कठिनशब्दानां सव्युत्पत्तिकः संग्रहः

संकेत-सूची

अ =अव्यय
अधि० =अधिकरण कारक
अन्य पु० =अन्य पुरुष
अपा० =अपादान कारक
आ० लि० =आशीर्लिङ्
उ० पु० =उत्तम पुरुष
ए० व० =एक वचन
करण =करण कारक
कर्ता =कर्तृ कारक
कर्तृ वा =कर्तृ वाच्य
कर्म =कर्म कारक
कर्मधा =कर्मधारय समास
कर्मवा =कर्मवाच्य
क्रि० वि० =क्रिया विशेषण
च० वि० =चतुर्थी विभक्ति
तृ० वि० =तृतीया विभक्ति
द्वि व० =द्वि वचन
द्वि वि० =द्वितीया विभक्ति
नपुं =नपुंसक लिङ्ग
नाम० =नामधातु
पं वि० =पञ्चमी विभक्ति
पुं लि० =पुंल्लिग
प्र० वि० =प्रथमा विभक्ति
प्राति =प्रातिपदिक
ब० व० =बहु वचन
म० पु० =मध्यम पुरुष
लङ् =लङ् लकार
लट् =लट् लकार
लि० =लिङ्ग
लिट् =लिट् लकार
लुङ् =लुङ् लकार
लुट् =लुट् लकार
लृङ् =लृङ् लकार
लृट् =लृट् लकार
लोट् =लोट् लकार
वि० =विशेषण
वि० लि० =विधिलिङ्
ष० वि० =षष्ठी विभक्ति
स० =सर्वनाम
सं० =संज्ञा
स्त्री =स्त्रीलिङ्ग
सम्प्र० =सम्प्रदान
सम्बो० =सम्बोधन
स वि० =सप्तमी विभक्ति
= =समानार्थं, बराबर
√ =धातु

नैषधमहाकाव्ये शब्दकोशः

४४ अकारि—√कृ+लुङ् कर्मवा; किया।

७ अङ्घ्रि—सं पुं लि०; पैर, चरण।

३४ अजनि—√जन्+लुङ् कर्तृवा; हुई, हो जाती थी।

५६ अणिमा—अणु+इमनिच्, सं पुं लि०; अणुपरिमाण।

४० अदर्शि—√दृश्+लुङ् कर्मवा; दिखलाया गया।

३६ अदृष्ट—न+√दृश्+क्त, १—(वि०) न देखा गया।
२—(सं नपुं) भाग्य प्रारब्ध।

२० अधारि—√धृ+लुङ् कर्मवा; ए० व०, धारण की।

३८ अधिलीलागृहभित्ति—(लीलागृहस्यभित्तौ इति) अव्ययीभाव समास; विलास-भवन की दीवार पर।

४ अधीति—अधि+√इङ्+क्तिन्, सं० स्त्री, अध्ययन।

१८ अधोविधानात्—अधस्+वि+√धा+ल्युट्, सं. नपुं; नीचा करने से, तिरस्कार से।

१०३ अध्याप्य—अधि+√इ+णिच्+ल्यप्, अ; पढ़ा कर।

५४ अनिरुद्ध—१-(वि०) न+नि+√रुध्+क्त; न रोका गया, वश में न हुआ, बेबस। २-सं पुं लि०; प्रद्युम्न के पुत्र का नाम।

१२ः अनुकम्पिता—अनुकम्पिन्+तल्, स्त्री; दयालुता, दया-भाव।

१४४ अनुस्रियमाण—अनु+√सृ+शानच् कर्मवा; अनुसरण किया जाता हुआ।

११५ अप्सरायिता—अप्सरस्+क्यङ (नामधातु)+क्त+टाप् स्त्री वि०; अप्सरा के समान हुई।

४६ अबोधि—√बुध्+लुङ् कर्तृवा; जानती थी।

४६ अभेदि—√भिद्+लुङ् कर्मवा; बींधा गया, छेद दिया, तोड़ दिया।

१७ अभ्यास—अभि+√अस्+घञ् सं पुं लि०; सामीप्य, संनिधि।

२७ अभ्यास—अभि+√अस्+घञ, सं पुं लि०; आवृत्ति, आदत, टेव।

१०८ अभ्रमु—सं स्त्री; इन्द्र की हथिनी जो ऐरावत की पत्नी मानी जाती है।

१६ अमानि—√मन् + लुङ् कर्मवा; माना, समझा।

१३ अमित्र—सं पुं लि०; शत्रु।

१२ अर्गल—सं नपुं; मूसला, किवाड बन्द रखने की लकड़ी।

१६ अर्थिसात्कृतः—अर्थिन + साति (अधीन अर्थ में प्रत्यय) + √कृ + क्त, वि०; याचकों के अधीन किया।

१५ अर्थी—√अर्थ + णिनि; माँगने वाला, याचक।

१३५ अर्दयन्—√अर्द् + णिच् + शतृ; मारते हुए, पीड़ित करते हुए, सताते हुए।

६२ अर्वताम्—[अर्वन्] सं पुं लि०; घोड़ों के।

१५ अल्पित—अल्प + णिच् (नामधातु) + क्त; छोटा कर दिया, तिरस्कृत किया, जीत लिया।

५८ अवटु—सं पुं लि०; सिर और गर्दन के जोड़ का पिछला भाग, गर्दन का जोड़।

७५ अवतीर्ण—अव + √तृ + क्त, पार किया।

६१ अवदात—अव + √दै + क्त, वि; उज्ज्वल, शुभ्र, चमकीला।

१०७ अवनी—सं स्त्री; पृथ्वी।

४६ अवन्ध्य—न + वन्ध्य, वि०; अमोघ, जो व्यर्थ न हो।

६ अवरोधिनीम्—अव + √रुध् + णिनि—ङीप्, वि०; रोकने वाली।

१२० अवश्यभव्य—अवश्य + √भू + यत्, वि०; होनहार, अवश्यंभावी।

११४ अवस्थिति—अव + √स्था + क्तिन्, सं स्त्री; नीचे स्थित होना।

१२६ अवादि—√वद् + लुङ् कर्मवा; कहा गया।

१४१ अस्फुटितेक्षण—बहु०; बिना खुली आँखों वाला, बन्द आँखों वाला।

६६ अहर्महः—[अह्नो महः] सं नपुं; दिन का तेज, धूप, आतप।

४१ अहोभिः—[अहन्] सं नपुं; दिनों ने।

४ आचरण—आ + √चर् + ल्युट्, सं नपुं; अनुष्ठान, अमल में लाना।

३ आतनुते—आ + √तनु; करती है।

१२५ आत्त—आ + √दा + क्त, वि, पकड़ा हुआ, लिया हुआ, अधीन।

१ आद्रियन्ते—आ + √दृङ् तुदादि; आदर करते हैं।

१०४ आन्तर—अन्तर् + अण्, वि०; अन्तर का, भीतरी।

१३४ आपगा—सं स्त्री; नदी।

११५ आमोद—आ + √मुद + णिच् + अच्, सं पुं लि०; १.सुगन्ध २.हर्ष।

११६ आयति—आ + √यम् + क्तिन्, सं स्त्री; लम्बाई-चौड़ाई, विस्तार, आकार।

१०२ आरराध—आ + √राध् + लिट्; प्रसन्न किया, सेवा की।

१०५—आलवाल—स नपुं: थाँवला, पेड़ के चारों ओर पानी भरने के लिये बनाया हुआ गड्ढा।

३ आविलाम्—आविल, वि; गदली को, दूषित को।

९१ आशङ्कित—आ + √शङ्क् + क्त, सं नपुं; आशङ्का, भय।

१३४ आशय—सं पुं लि०; मन, हृदय।

९ आशुग—आशु + √गम् + ड, सं पुं लि०; १-बाण, २-वायु।

५५ आसितुम्—√आस् + तुमुन्, आ बैठना।

४३ इयेष—√इष् + लिट् अन्य पु० ए० व; चाहा।

१४१ ईक्षण—√ईक्ष् + ल्युट्, सं नपुं; नेत्र।

११ ईति सं स्त्री; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे आदि का उत्पात।

१२६ उत्कता—उत्क + तल् + टाप्, सं स्त्री; विषाद दुःख।

४१ उत्कर—सं पुं लि०; समूह, राशि।

१६ उत्सर्ग—उत् + √सृज् + घञ्, सं पुं लि० दान, त्याग छोड़ना।

१७ उदयम्—उत् + √इ + अच्, सं पुं लि०, १-उन्नति, २-निकलना।

३६ उदाहर—उत् + आ + √हृ + लोट्, म० पु, ए० व; कहो, बतलाओ।

१३७ उदित—√वद् + क्त; कहना, कहा जाना।

१३२ उद्भट—वि; प्रचण्ड, रण बाँकुरा।

३० उद्भव—उत् + √भू + घ, सं पुंलि०; अविर्भाव, प्रकट होना।

१२१ उपपल्वलम्—(पल्वलस्य समीपे) अव्ययीभाव; तालाब के समीप।

४ उपाधिभिः—उप + आ + √धा + कि, सं पुंलि०; विशेषता।

१७ उपेयुषा—(उपेयिवस्) उप + √इ √क्वसु; वि; प्राप्त हुआ।

३२ उह्यमान—√वह्+शानच् कर्मवा० ,वि; ले जाया जाता हुआ।

१८ ऊर्ध्वरेखा—सं स्त्री; सामुद्रिक-शास्त्र में मानी गई पैर की एक रेखा।

३२ ऊह्यमान—√ऊह्+शानच् कर्मवा०, वि०; अनुमान किया जाता हुआ।

१२१ एकपादिका—एकपाद+ठन्, सं स्त्री; वह क्रिया जिसमें एक पैर काम में लाया गया हो।

११२ ओघ—सं पुं लि०; समूह।

११५ कण्टक—सं पुं लि०, नपुं; १-काँटा, २-रोमाञ्च।

४६ कञ्चुक—सं नपुं; कवच।

१ कथाम्—√कथ्+अ+टाप्, सं स्त्री; कथा कहानी।

७ कनिष्ठया—(कनिष्ठा) लघु+इष्ठन्+टाप्, स्त्री; छोटी अङ्गुलि।

१११ कमलानुषङ्गिन्—वि०, १-(कमला+अनुषङ्ग+इनि) कमलों के सम्पर्क वाला, २-(कमला+अनुषङ्ग+इनि) लक्ष्मी के सम्पर्क वाला।

१३० कमलोदय—१-(कमला+उदय) लक्ष्मी की वृद्धि, २-(कमल+उदय) जल की वृद्धि।

१४२ कम्प्र—√कम्प्+र, वि०; काँपता हुआ, काँपने वाला।

८० करपत्र—सं नपुं, आरा।

८८ करुण—१-सं पुं लि०; करुण नाम का वृक्ष। २-सं स्त्री; दया।

७९ कर्णिशर—सं पुं लि०, फलक की विपरीत दिशा में काँटों वाला बाण, उलटी झड़ों वाला बाण।

१७ कविना—कवि, सं पुं लि०; १-काव्य-कार, २-शुक्र ग्रह।

१०९ कशा—सं स्त्री; कोड़ा।

१२२ काञ्चन—काञ्चन+अण्, वि०; सोने का, सुनहरे रंग का।

७६ काम—√कम्+घञ् सं पुं लि०; १-इच्छा, वासना, २-कामदेव।

३८ कारु—सं पुं लि० शिल्पी, कारीगर।

१३४ कारुण्य—करुण+ष्यञ्, सं नपुं; करुणा; दया।

११३ कालकूट—सं पुं लि० नपुं; हालाहल विष, जो समुद्र-मन्थन से निकला था।

८४ कालखण्ड—सं नपुं, यकृत, जिगर।

१ कीर्ति – √कृत+इन्. सं स्त्री; यश, प्रशंसा, नाम।

१४ कुण्डलना—सं स्त्री; कुण्डली, गोल रेखा।

१०० कुहू—सं स्त्री; १–कूहू कूहू की आवाज, २-अमावस्या।

७ कृते—(कृत) सं० नपुं; सत्ययुग।

१४ कैतव—कितव+अण्; सं नपुं; बहाना, व्याज।

११२ कोकनद—सं नपुं; लाल कमल।

७८ कौतुकिन् कौतुक+इनि, वि०; उत्सुक, कुतूहल से भरा हुआ।

७० क्रम—√क्रम्+घ, सं पुं लि०; पैर रखना, पैर चलाना. पाद विक्षेप, लाँघना।

१२१ क्लम—√क्लम्+घञ्, सं पुं लि०; थकाना, थकावट, खेद।

६७ क्षणदा—सं स्त्री; रात्रि।

६६ क्षम—√क्षम्+अच्, वि०; समर्थ; पर्याप्त।

१८ क्षमाभुजाम्—(क्षमा+√भुज्+क्विप्) सं पुं लि०; पृथ्वी का पालन करने वाला, राजा।

३ क्षालना—√क्षाल्+युच्+टाप्, सं स्त्री; धोना।

१ क्षिति—√क्षि+क्तिन्, सं स्त्री; पृथ्वी।

१ क्षितिरक्षिणः—क्षिति+√रक्ष्+णिनि, सं० पुं लि०; पृथ्वी की रक्षा करने वाला; राजा।

७४ क्षोणिपति—क्षोणि+पति, सं पुं० लि०; पृथ्वी का स्वामी, राजा।

६४ क्ष्माभृत्—क्ष्मा+√भृ+क्विप्, सं पुं लि०; पृथ्वी का पालन करने वाला, राजा।

१०३ गायनीकृत—गायन+च्वि+√कृ+क्त, वि०; गाने वाला बनाया गया।

४२ गुण—सं पुं लि०; १–धागा, सूत्र, २–अच्छाई।

४ गुणः—सं पुं लि०; १–उत्तमता, अच्छाई, २–डोरी, रस्सी।

२१ गोपुर—सं नपुं; नगर-द्वार मुख्य-द्वार, तोरणों से सजा हुआ द्वार।

७२ गोष्पद—गो+पद, सं नपुं; गाय के खुर का परिमाण, गाय के खुर के बराबर, छोटा ।

१२० ग्रह—ग्रह्+घ, सं पुं लि॰ आग्रह, हठ ।

७४ घनच्छाय—बहु॰; १–गहन छाया वाला, २–बादल के समान कान्ति वाला ।

१५ चक्रे—√कृ+लिट्, अन्य पु. ए. व; किया ।

२८ चक्षुःश्रवसाम्—(चक्षुःश्रवस्) सं पुं लि॰; साँपों की ।

७३ चङ्क्रम—√क्रम्+यङ+घ सं पुं लि॰; घूमना, भ्रमण ।

४ चतुर्दशत्वम्—सं नपुं; १–चतस्रो दशा यासां तासां भावः, चार दशा वाला होना. २-चौदह संख्या होना ।

५१ चन्द्रभाग—सं पुं लि॰; कर्पूर, काफूर ।

७८ चरिष्णु—√चर्+इष्णुच. वि॰; व्यापनशील, फैलने वाला ।

१२ चातुरी—चतुर+अण्+ङीप्, सं स्त्री; चतुरता ।

२५ चापलम्—चपल+अण्, सं नपुं; चपलता, चञ्चलता ।

६१ चाम्पेय—चम्पा+ढक्; चम्पा का ।

३७ चारण—सं पुं लि॰; भाट ।

१३ चारदृक्—चार+√दृश्+क्विप्; गुप्तचरों द्वारा देखने वाला ।

१६ चिकुर—सं पुं लि॰; केश, बाल ।

१०७ चिरत्न्—चिर+त्न, वि॰; पुराना ।

१०९ छटा—सं स्त्री; समूह ।

२० छाया—सं स्त्री; कान्ति, शोभा ।

१५ जाग्रतीम्—√जागृ+शतृ; चमकती हुई, लिखी गई ।

१२९ जातरूप—सं नपुं॰; स्वर्ण, सोना ।

५ जिगीषया—√जि+सन्+अ, सं॰ स्त्री; जीतने की इच्छा से ।

२२ जित्वर—√जि+क्वरप्, वि॰; जय-शील, जीतने वाला ।

५१ जुगोप—√गुप्+लिट्; छिपाया ।

४५ ज्या—सं स्त्री; धनुष की डोरी ।

२ ज्वलत्—ज्वल्+शतृ; जलता हुआ, दीप्यमान ।

५१ तति—√तन+क्तिन्, सं स्त्री; सन्तान, परम्परा, पङ्क्ति ।

६० तनु—वि०; क्षीण ।

४१ तपर्तु—तप+ऋतु, सं पु ं लि०; ग्रीष्म ऋतु ।

७ तपस्विताम्—तपस्विन्+तल्+टाप्, सं स्त्री; १—तापस-भाव २—दीनता ।

६६ तमिस्रपक्ष—सं पु ं लि०; कृष्ण-पक्ष ।

११२ तरङ्गिणी—तरङ्ग+इनि+ङीप्, सं स्त्री; लहरों वाली, नदी ।

३७ तस्थे—√स्था+लिट, भाववाच्य; रहा गया, ठहरा गया ।

२२ तिर प्रसारिता—तिरस्+प्र+√सृ+णिनि+तल्, सं स्त्री; विशालता, बृहदाकारता ।

१२ तुरी—सं स्त्री; ढरकी, Shuttle.

२५ तुलाभिलाषिणः—(तुला+अभिलाषिन्) √लष्+णिनि; समानता की इच्छा करने वाला ।

१०२ तौर्यत्रिक—सं नपु ं; गीत, वाद्य और नृत्य ।

२७ त्रिदशी—सं स्त्री; देवों की स्त्री देवाङ्गना ।

६६ त्रुटिकूट—सं नपु ं; क्षय का व्याज ।

११३ त्विष—सं स्त्री; कान्ति ।

१३६ दयासख—दया+सखि+टच्, तत्पुरुष; दयालु ।

८५ दर—१—अ; कुछ, थोड़ा । २—सं पु ं लि० नपु ं; भय ।

१५, २४ दरिद्रता—दरिद्र+तल्+टाप्, सं स्त्री: अभाव ।

२० दारिद्र्य—दरिद्र+ष्यञ्, सं पु ं लि०; गरीबी, निर्धनता ।

२० दास्य—दास+ष्यञ्, सं नपु ं; दासता, दास होना ।

६ दिगीश—दिश+ईश, सं पु० लि०; दिक्पाल, दिशाओं के अधिष्ठातृ-देव—इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर आदि ।

८६ दित्सन्—√दा+सन्+शतृ; देने की इच्छा करता हुआ ।

५६ दिदेश—√दिश्+लिट्; आदेश दिया, आज्ञा दी ।

११५ दिवा—१—अ; दिन में, २—दिव्; सं स्त्री स्वर्ग ।

१३६ दुरुत्तर—दुर्+उत्+√तृ+खल्, वि०; जिसे मुश्किल से पार किया जा सके, पार करने में कठिन ।

८८ दून—√दू+क्त, वि०; दुःखी, खिन्न ।

१७ देवः—सं पुं लि०; १–राजा, २–देवता, ३ सूर्य ।

५८ देवमणि—सं पुं लि०; १–गले में स्थित भौंरी, २–कौस्तुभ मणि ।

२२ दोर्भ्याम—(दोष्) सं० पुं लि०; भुजा ।

८७ दोहदधूपिन्—दोहद+धूप+इनि, वि०; दोहद और धूप वाला ।

६३ द्विजिह्व—(द्वे जिह्वे यस्य, बहु०) दो जीभ वाला, साँप ।

८२ धय—√धेट्+श, वि०; पीने वाला ।

३० धव—सं पुं लि०; स्वामी, पति ।

७२ धारा—सं स्त्री; घोड़े की चाल, सीधी चाल ।

७४ धृति—√धृ+क्तिन्, सं स्त्री; धैर्य, शान्ति, सन्तोष ।

५ नर्तकी—√नृत्+ण्वुल्+ङीप्, स्त्री; नाचने वाली ।

२२ ध्रुवम्—अव्यय; उत्प्रेक्षा का व्यञ्जक शब्द मानो ।

३५ नल—सं पु लि०; १–नरसल, एक घास का नाम, २–एक प्रसिद्ध राजा का नाम ।

१३५ नवप्रसूति—बहु०; नये प्रसव वाली ।

७६ निवेद्यमान—नि+√विद्+णिच्+शानच्, कर्मवा; बतलाया जाता हुआ ।

६२ नाराच—सं पु० लि०; बाण ।

६८ नासीर—सं नपुं, सेना का अगला दस्ता, आगे रहने वाली टुकड़ी ।

२७ निःस्व—निर्+स्व, वि०; शून्य रहित ।

५८ निगाल—सं पु० लि०; गर्दन का नीचे का भाग ।

१२१ निदद्रौ—नि+√द्रा+लिट्; सो गया ।

३६ निदर्शनम्—नि+√दृश्+ल्युट्, सं नपुं; दृष्टान्त, उदाहरण ।

५६ निदेशकारिन्—निदेश+√कृ+णिनि, आज्ञा मानने वाला, सेवक ।

१ निपीय—नि+√पीङ्+ल्यप् अ; पीकर ।

१३१ निबर्हणम्—नि+बर्ह्+ल्युट्, सं नपुं; हिंसा, वध।

१०८ निभ—सं पुं लि०; व्याज, बहाना।

२७ निमीलन—नि+√मील्+ल्युट्, सं नपुं; पलक मारना, आँख बन्द करना।

२७ निमेष—नि+√मिष्+घञ्, सं पु० लि०; पलक मारना।

१२५ निरोद्धुः—(निरोद्धृ)नि+√रुध्+तृच्; रोकने वाला, पकड़ने वाला।

११३ निलीन—नि+√ली+क्त, वि०; छिपा हुआ।

१३६ निवृत्ति—नि+√वृत्+क्तिन्, सं स्त्री; दुःख की शान्ति, समाप्ति।

५४ निसर्ग—नि+√सृज्+घञ्, सं पुं लि०; स्वभाव, प्रकृति।

६ निस्वन—नि+√स्वन्+अप्, सं पुं लि०; शब्द, घोष, बाण की सरसराहट।

६२ निह्नुवान—नि+√ह्नु+शानच्; छिपाता हुआ।

१० नीराजनया—(नीराजना) सं स्त्री; आरती।

३६, ४३ नैषध—निषध+अण्, सं पुं लि०; निषध देश का राजा।

१२६ न्यवारयत्—नि+√वृ+णिच+लङ्; रोका।

९४ पचेलिम—√पच्+केलिमर्, वि०; पका हुआ।

१७ पटीयान्—(पटीयस्) पटु+ईयसुन्, वि०; समर्थतर, अधिक समर्थ।

१२६ पतत्—सं पुं लि०; पक्षी।

१२७ पतत्रिन्—पतत्र+इनि, सं पुं लि०; पक्षी।

३६ परासोः—(परा+असु) वि०; मृत, प्राण निकला हुआ।

१४ परिवेष—परि+√विष्+घञ्, सं पुं लि०; घेरा, मण्डल।

८४ पल—सं नपुं; मांस।

३ पवित्रयिष्यति—पवित्रय् (पवित्र+णिच्) नामधातु; पवित्र करेगी।

१०६ पश्यतोहर—पश्यतः+√हृ+अच्, सं पुं लि०; चोर लुटेरा, डाकू।

६४ पाकशासन—पाक+√शास्+ल्यु, सं पुं लि०; पाक नाम के दैत्य का दमन करने वाला (इन्द्र)।

९५ पाटला—सं स्त्री; पाडर, एक पेड़ का नाम।

९३ पातुक—√पत्+उकञ्, वि०; गिरने वाला, उड़ता हुआ।

८६ पान्थ—पथिन्+अण्. सं पुं लि०; राहगीर, पथिक, यात्री।
२० पार्विक—पर्वन्+ठञ्; वि०; पौर्णमासी का, पूनम का।
८७ पुरारि—पुर+अरि, सं पुं लि०; पुर का शत्रु, शिव।
६७ पुरुहूत—(पुरु+√ह्वे+क्त) सं पुं लि०; इन्द्र।
३७ पृष्टः—√प्रच्छ्+क्त, वि०; पूछे गये।
६६ पेशलः— वि०; सुन्दर, चारु।
४६ पौष्प—पुष्प+अण, वि०; फूलों के बने।
७५ प्रकर- प्र+√कॄ+अप्, सं पुं लि०; समूह, राशि।
४ प्रचारण—प्र+√चर्+णिच्+ल्युट्, सं नपुं; प्रचार अध्यापन।
१५ प्रणीय— प्र+√नी+ल्युप्, अ; करके।
२३ प्रतिमा- सं स्त्री; समानता, उपमा।
११, १३ प्रतीप— वि०; विरुद्ध, प्रतिकूल, शत्रु।
१० प्रदक्षिणीकृत्य—प्रदक्षिण+च्वि+√कृ+ल्यप्, अ; प्रदक्षिणा करके, परिक्रमा करके।
१४२ प्रमील्य—प्र+√मील्+ल्यप्; आँखें बन्द करके, मूर्च्छित होकर।
११४ प्ररोहत्तम—प्र+√रुह्+शतृ+तमप्, वि०; बहुत अधिक उठता हुआ, बढ़ता हुआ।
७४ प्रवाल—सं पुं लि० १—कोंपल, नूतन पल्लव २—मूँगा, विद्रुम।
११२ प्रवाल—सं पुं लि०; मूँगा।
६ प्रसभ—क्रि वि०; बलपूर्वक, हठात् जबरदस्ती।
१३५ प्रसूति—प्र+√सू+क्तिन्, सं स्त्री; प्रसव, जन्म, सन्तान।
८१ प्रसूनधन्वन्— सं पुं लि०; पुष्पों के धनुष वाला कामदेव।
६० प्रोथ—सं पुं लि०; नथुने, नाक।
२८ फलाढ्य—फल+आढ्य, वि०; फल से युक्त, सफल।
१६ फाल—सं नपुं; माँग की पट्टी, सिर का भाग।
२५ वाल—सं पुं लि०; १—केश, २—बालक, बच्चा।
११२ बिभराम्बभूव— √भृ+लिट् अन्य पु ए व; धारण कर रहा था।
१ बुधाः—√बुध्+क, सं पुं लि०; १—विद्वान्, २—देवता।

१७ बुधेन—बुध, सं पुं लि०; १—विद्वान्, २—बुद्ध ग्रह ।
१४२ बुबुधे—√ बुध्+लिट्; जाग गया, होश में आया ।
४ बोध—√ बुध्+घञ्, सं पुं लि०; अर्थ-ज्ञान ।
६ बोधिका—वि० स्त्री (पुं लि०—बोधक) √बुध्+णिच्+ण्वुल्; बतलाने वाली ।
६२ भङ्गि—सं स्त्री; प्रकार, ढंग ।
१३१ भट—सं पुं लि०; योद्धा, लड़ाकू, सैनिक ।
२६ भावना—√भू+णिच्+युच्+टाप्, सं स्त्री; ध्यान, चिन्तन ।
२ भूजानिः—वि० बहु०; पृथ्वी है पत्नी जिसकी, राजा, भूपति ।
११४ भूमन्—बहु+इमनिच् सं पुं लि०; बहुलता, अधिकता ।
१३ भेतृता—√भिद्+तृच्+तल्, सं स्त्री; १—भेदकता, भेदक होना । २—परोपजाप, शत्रु-पक्ष में फूट डालना ।
४६ भैमी—भीम+अण्+ङीप, स्त्री वि०; भीम की पुत्री ।
३२ भोग—सं पुं लि०; १—साँप का शरीर, फन; २—उपभोग के पदार्थ ।
७३ भ्रमि—√भ्रम+इ, सं स्त्री; चक्कर में घूमना, चक्राकार गति ।
८ मञ्जिमन्—मञ्जु+इमनिच्, सं पुं लि०; मञ्जुता, सुन्दरता ।
७१, ७२ मण्डली—सं स्त्री; १—वृत्ताकार गति, चक्कर में घूमना; २—वृत्त बनाते हुए बैठना ।
५७ मत्सर—सं पुं लि०; द्वेष, वैर ।
३० मनोभव—मनस्+√भू+अच्, सं पु० लि०; काम अभिलाषा ।
४६ मनोभुवा—(मनोभू) मनस्+√भू+क्विप्, सं पं लि०; मन में होने वाला, मनसिज, काम ।
५७ मन्दुरा—सं स्त्री; अश्व-शाला, घुड़साल ।
२६ मन्मथ—सं पुं लि०; १—कामदेव, प्रेम का देवता; २—वासना ।
१ मह—सं पुं; उत्सव ।
१ महसाम्—(महस्) सं नपुं; तेज, दीप्ति, आभा ।
१२६ मानसौकस्—(मानस+ओकस्) बहु०; हंस ।
६२ मार—सं पुं लि०; कामदेव ।

४६ मार्गण—सं पुं लि०; बाण ।

६४ मालूरफल—सं नपुं; बेल का फल, बिल्व-फल ।

१३ मित्रजित्—मित्र+√जि+क्विप्; १—सूर्य को जीतने वाला, सूर्य से बढ़कर; २—सुहृद् को जीतने वाला ।

३५ मुदा—√मुद्, सं स्त्री; हर्ष से ।

४० मुद्रित—मुद्रा+इतच्, वि०; बन्द मुँदा हुआ ।

९६ मुनिद्रुम—सं पुं लि०; अगस्त्य नाम का वृक्ष ।

५२ मूर्च्छना—सं स्त्री; स्वरों का उतार-चढ़ाव ।

१५ मृषा अ; झूठ, असत्य, व्यर्थ ।

६८ मृषामृधम्—सं नपुं; बनावटी लड़ाई, कृत्रिम युद्ध ।

११३ मेचक—वि०; काला, नीला ।

४० मौन—मुनि+अण्, सं नपुं, चुप्पी, व्यापार रहित होना, निष्क्रियता ।

१६ युगम्—सं नपुं; जोड़ा, युगल ।

३ युगे—सं नपुं; पौराणिक काल-गणना में काल का एक परिमाण—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ।

१३९ यूथ्य—यूथ+यत्, वि०; झुण्ड का, गिरोह का हाथी ।

१९ यौवनम्—युवन्+अण्, सं नपुं; जवानी, युवावस्था ।

५४ रति—√रम्+क्तिन्, सं स्त्री; १—प्रेम, राग; २—कामदेव की पत्नी ।

१११ रथाङ्ग—सं पुं १—चक्र नाम का आयुध, २—चकवा ।

६१ रद—सं पुं लि; दाँत ।

३ रसक्षालनया—रस+क्षालना, तृतीया तत्पुरुष; जल से धोना ।

५ रसना—सं स्त्री; जिह्वा, जीभ ।

१० राजघ्नः—राजन्+√हन्, वि०; राजाओं का संहारक ।

१६ रामणीयक—रमणीय+वुञ्, सं नपु; रमणीयता, सुन्दरता, शोभा ।

११४ रिङ्गण—√रिङ्ग+ल्युट्, सं नपुं; रेंगना, काँपना, कम्पन ।

११७ रिरंसु—√रम्+सन्+उ, वि०; रमण करने की इच्छा वाला ।

१०० रुत्—√रुद्+क्विप्, सं स्त्री; शब्द ध्वनि, आवाज ।

१२३ रेजतुः—√राज्+लिट्, अन्य पु० द्वि० व; शोभित हुए।
६६ रोध—√रुध्+घञ्, सं पुं लि०; रोकना, ढक देना, पाटना।
२१ रोमकूप—(रोमन्+कूप) सं पुं लि०; रोम-विवर, वालों के छिद्र।
१०२ लाघव—लघु+अण्, सं नपुं; फुर्तीलापन, निपुणता।
१२३ वन—सं नपुं; १—उपवन, बगीचा; २—जल।
७६ वनपाल—वन+√पा+णिच्+अण्, सं पुं लि०; माली, (सं स्त्री—वनपाली)।
३७ वन्दिन्—√वन्द+णिनि; स्तुति-पाठक, स्तुति करने वाले।
३२ वयसा—(वयस्) सं नपुं; १—पक्षी, गरुड़; २-उम्र, अवस्था।
५६ वयस्य—वयस्+यत्; समान अवस्था वाला, मित्र।
१३५ वरटा—सं स्त्री; मादा हस, हंसी।
१२४ वर्मन्—सं नपुं; कवच।
१० वलय—सं नपुं; मण्डल।
६३ वल्गा—सं स्त्री; लगाम, वागडोर।
६३ वल्गु—वि०; सुन्दर।



३३ वशंवद—वश+√वद्+खच्; वि०; आज्ञाकारी, विधेय।
१३४ वाङ्मय—वच्+मयट् सं नपुं; वाणी का विकार, वचन।
११४ वाडव—वडवा+अण्; सं पुं लि०; वडवा (घोड़ी) सम्बन्धी अग्नि, समुद्र के अन्दर रहने वाली आग जो घोड़ी के मुख से उत्पन्न कही जाती है।
७३ वात्या—वात+य+टाप्, सं स्त्री; ववण्डर, आँधी, वात-समूह।
७३ वात्यामय—वात्या+मयट्, वि०; वबण्डर रूप।
१०२ वापी—सं स्त्री; बावड़ी, चौड़ा कुआँ जिनमें सीढ़ियाँ बनी हों।
१२४ वामनी—वामन+अण+ङीप्, स्त्री वि०; बौने की, छोटी।
९४ वारनारी—सं स्त्री; वेश्या, गणिका, रंडी।
७७ वार्धक—वृद्ध+वुञ्, सं नपुं, बूढ़ों का समूह।
६६ वाहवाह—वाह+वह्+अण्; घोड़े को ले जाने वाला, घुड़सवार।
१३ विचारदृक्—१·विचार+√दृश्+क्विप्. बुद्धि से देखने वाला; २—वि+चार+√दृश्+क्विप्, बिना गुप्तचरों के देखने वाला।

२४० विदीर्णं—वि + √दृ + क्त, वि०; फटा हुआ।
१४ विधि—सं पुं लि०; ब्रह्मा, विधान करने वाला, विधाता।
८ विधो—(विधु) सं पुं लि०; चन्द्रमा।
६ विभूति—वि + √भू + क्तिन्, सं स्त्री; जन्म, उद्भव।
२६ विभ्रमः—वि + भ्रम् + घ, स पुं लि०; १-भ्रान्ति, २-विलास, आवेश।
१४० विपद्यते—वि + √पद् + लट् भाववाच्य; मरा जाता है।
६७ विमनायमानया—विमनस् + क्यङ् (नामधातु) + शानच्; उदास होती हुई।
१३८ वियोक्ष्यसे—वि + √युज् + लृट् कर्मवा; छोड़ दिये जाओगे, वियुक्त होगे।
८३ वियोगिनी—१-वि + योगिनी, पक्षी के योग वाली; २-वियोग + इनि + ङीष्, स्त्री वि०; विरहणी।
७४ विलासकाननम्— १-विलास + कानन, सं नपुं; क्रीड़ा-वन्। २-विलासक + √अन् + णिच् + ल्यु, वि०; साँपों को उल्लासित करने वाला।
१४१ विलुठ्य—वि + √लुठ् + ल्यप्; लोट पोट होकर, छटपटा कर।
१३३ वृत्ति—√वृत् + क्तिन्, सं स्त्री; आहार, जीविका, गुजारा।
४ वेद्मि—√विद् + लट्; जानता हूँ।
१२ वेमन्—सं पु लि०; करघा (loom)।
५२ वैणिक—वीणा + ठञ् (इक); वीणा-वादक, वीणा बजाने वाला।
९६ वैधव—विधु + अण्, वि; विधु का, चन्द्रमा का।
१५ वैधसीम्—वेधस् + अण् + ङीप्, स्त्री वि०; ब्रह्मा की, विधाता की।
३२ वैरोचनि—विरोचन + इञ्, सं पुं लि०; विरोचन का पुत्र, बलि, बाण का पिता।
४४ व्यय—वि + √इ + अच, सं पुं लि०; क्षय, नाश।
९ व्ययितस्य—(व्ययित) वि + √अय् + क्त, वि० नष्ट हुआ।
४६ व्यलासि—वि + √लस् + लुङ् भाववा; प्रकट हुआ।

५३ शम्बर—एक असुर का नाम, जिसे कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने मारा था, ऋग्वेद में शम्बर को मारने वाला इन्द्र कहा गया है।

२० शय—सं पुं लि०, हाथ।

६० शर्म—सं नपुं; सुख।

२० शर्वरी—सं स्त्री; रात्रि।

२० शर्वरीश्वरः—शर्वरी+ईश्वर, सं पुं लि०; रात्रि का स्वामी, चन्द्रमा।

६१ शाण—सं पुं लि०; सान रखने का पत्थर।

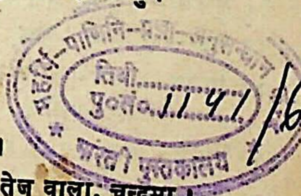
१०६ शातन—√शो+णिच्+ल्युट्, स० नपुं; ताड़न, पीटना।

२० शारदः—शरद्+अण्, वि०; शरद् ऋतु का।

१११ शार्ङ्गिन्—शार्ङ्ग+इनि; शार्ङ्ग नामक धनुष वाला, विष्णु।

६ शिखिन्—शिखा+इनि, सं पुं लि०; आग।

१०२ शिखिन्—शिखा+इनि, सं पु लि० मोर।



६६ शिति—वि०; काला, कृष्ण।

६३ शिलीमुख—सं पुं लि०; १—भौंरा, २—बाण।

६४ शीतमहस्—(शीतं महो यस्य, बहु०) शीतल तेज वाला, चन्द्रमा।

३४ शृण्वती—√श्रु+शतृ+ङीप्, वि०; सुनती हुई।

१६ शैशव—शिशु+अण, सं नपुं; बचपन।

७१ श्राद्धता—श्रद्धा+अण्+तल्, सं स्त्री; श्रद्धालु होना।

४५ संहित—सम्+√धा+क्त, वि०; चढ़ाया, रक्खा, संधान किया।

११० सङ्कुल—वि०; व्याप्त, भरा हुआ।

४५ सनाथयन्—सनाथ+णिच् (नामधातु)+शतृ; युक्त करता हुआ।

५४ सर्ग—सृज्+घञ्, सं पुं लि०; सृष्टि।

१२ सहकृत्वरी—सह+√कृ+क्वनिप्+ङीप्, वि०; मिलकर काम करने वाली, सहकारिणी, (पुं० लि० वि०—सहकृत्वा)।

६८ सादिन्—सं पुं लि०; अश्वारोही, घुड़सवार।

६४ सार—वि०; उत्तम उत्कृष्ट।

८६ साल—सं पुं लि०; वृक्ष।

४५ साहसी—साहस+इनि, वि०; साहस करने वाला, जोखम उठाने वाला।

९६ सिंहिकासुत—सं पुं लि०; सिंहिका का पुत्र, राहु।
१ सितच्छत्रित—सितच्छत्र+णिच् (नामधातु)+क्त, धवल छत्र बनाया।
७ सुकृते—(सुकृत) सं नपुं; धर्म, पुण्य।
१ सुधा—सु+√धेक+टाप्, सं स्त्री; अमृत, देवों का एक पेय।
२ सुधावधीरिणी—सुधा+अव+√धीर्+णिनि; अमृत को तिरस्कृत करने वाली।
३९ सुप्तिः—√स्वप्+क्तिन्, सं स्त्री; निद्रा, नींद, स
१०४ सुभ्रू—बहु०, सुन्दर भौं वाली, सुन्दरी।
७४ सुषुप्सा—√स्वप्+सन्+अ+टाप् सं स्त्री; सोने की इच्छा।
१० सृष्टया—(सृष्ट) सृज्+क्त, वि०; की गई।
१४१ सेक—√सिच्+घञ्, सं पुं लिं०; छिड़काव, सेचन।
७१ सैन्धव—सिन्धु+अण्+(मत्वर्थीय) अण् वि०; सिन्धु देश में उत्पन्न घोड़ों वाले।
१११ स्तोम—स पुं लि०; समूह।
६८ स्थलायताम्—स्थल+क्यङ् (नामधातु) लोट्, स्थल बन जाये।
७२ स्थली—स्थल+ङीष् सं स्त्री; भूमि, ऊंची सम भूमि।
१२८ स्थिति—√स्था+क्तिन्, सं स्त्री; मर्यादा।
३९ स्वपती—√स्व+शतृ+ङीप्, सोती हुई।
३९ स्वपतीकृतम्—स्व+पति+च्वि+√कृ+क्त; अपने पति बनाये हुए।
३ स्वसेविनीम्—स्व+√सेव्+णिनि; विं०; अपना सेवन करने वाली।
७० हरि—सं पुं लि०; १–विष्णु, २–घोड़ा।
११४ हव्यवाह्—हव्य+√वह्+ण्वि, सं पुं लि०; हवि का वहन करने वाला, अग्नि।
११७ हिरण्मय—हिरण्य+मयट्, वि०; सोने का, स्वर्ण का।
१४५ हीर—सं पुं लि०; हीरा वज्रमणि।
१३० हेमजन्मन्—बहु०; स्वण के, सुनहरी।
१३० हेमन्—सं नपुं; स्वर्ण।